श्रीविष्णुधर्मोत्तर में मूर्त्तिकला

लेखक
बद्रीनाथ मालवीय, एम० ए०
अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग
दालचन्द्र नारायणदास जैन महाविद्यालय
जबलपुर

प्रकाशक
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग
१९६०

जो जगत् के समस्त पदार्थों में परोक्षरूप
से अन्तर्हित है, जो भक्तवात्सल्य के
कारण मूर्त्तियों में साकार होता
है उस ब्रह्म को सादर
समर्पित

प्राक्कथन

मनुष्य के मस्तिष्क में जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं उनमें से कुछ बहुत प्रधान और प्रबल हैं। प्राय: वे ही मनोवृत्तियाँ मनुष्य के सांसारिक जीवन व्यापारों में प्रेरणा देती रहती हैं, और उन्हीं की पूर्ति के लिए बहुत से कार्य मनुष्य करता है। इन्हीं मनुष्य की मनोवृत्तियों से कितनी ही विद्याओं और कलाओं का आविर्भाव और क्रमिक विकास हुआ है।

मनुष्य स्वभावत: कल्पनाशील है। कल्पना वस्तुत: ज्ञात और परिचित विचारों को इस रूप में मिलाती है कि मिला हुआ विचार नितांत नवीन, मौलिक और विस्मयकारक होकर एक विचित्र प्रकार का आनन्द देता है। इस कल्पना के आधार पर अनुभूति संसार सम्बन्धी विचारों के सम्मिश्रण से मनुष्य ने बहुत से नवीन और कल्पित विचार और पदार्थ उपस्थित किये हैं। अनुकरण-प्रियता की मनोवृत्ति, सौन्दर्य-प्रियता की मनोवृत्ति के साथ मनुष्य के कल्पना-कौतुक में सहायता करती है और विविध प्रकार के ललित और सुन्दर कलाओं का इसके फलस्वरूप इसका आविर्भाव और स्वरूप होता है।

प्रकृति निर्मित इस संसार में मनुष्य ने जब से जन्म लिया होगा तब सम्भवत: उसमें प्रकृति की वस्तुओं को देखकर विस्मय और आश्चर्य के भाव स्वभावत: उठे होंगे। जिनकी प्रेरणा से उसने इन वस्तुओं के कारण की खोज की होगी। शनै: शनै: प्राकृतिक तत्त्वों और उनकी शक्तियों का बोध उसे हुआ होगा और साथ ही उसमें एक अनन्त शक्ति और उसके विविध रूपों अथवा

प्रकारों तथा उसके कार्यों और परिणामों के विविध विचार उठे होंगे। फलतः उसने दैवी-शक्ति और तत्सम्बन्धी विविध देवताओं के विचार बनाये होंगे। उनके साथ ही दो विरोधी विचारों को एक साथ-साथ उठानेवाले उसके मन में इन देवताओं के विलोम रूपों अर्थात् दानवों और दैत्यों की कल्पना की होगी।

मनुष्य अपने अनुभवों को स्वभावतः अपनी स्मृति के पटल पर अंकित कर चिरकाल के लिए संचित रखना चाहता है और रखता भी है। साथ ही वह स्वभावतः अपनी अनुभूतियों और अपने विचारों को अधिक से अधिक व्यापक और स्थायी बनाना चाहता है। इसके कारण मुख्यतया चित्रकला, मूर्तिकला, शब्दात्मक-भाषा, सांकेतिक-भाषा और उससे बननेवाले साहित्य का प्रकाश और विकास हुआ है। सम्भवतः मनुष्य ने अपनी आदिम अवस्था में अपनी अनुभूतियों को अपने और दूसरों के हेतु संचित रखने के लिए सरलतया प्राप्त होने वाले मिट्टी, पत्थर आदि साधनों का उपयोग किया होगा और अपने विचारों और अनुभवों को मूर्तियों आदि के रूप में व्यक्त और व्यापक करने तथा रक्षित रखने का प्रयत्न किया होगा। ऐसा करने में उसकी कल्पना और सौंदर्यप्रियता नामक मनोवृत्ति ने भी सहायता की होगी और मूर्तियों आदि को प्रियता देनेवाले रूपों में सुन्दरता प्रदान की होगी। इस प्रकार क्रमशः चित्रकला और मूर्तिकला का विकास हुआ होगा। प्राचीनतम उपलब्ध मूर्तियों और चित्रों आदि के देखने से इस अनुमान को पुष्टि प्राप्त होती है। मूर्तियों के साथ ही मनुष्य की विकसित कला ने कौतुक-प्रियता नामक मनोवृत्ति के आधार पर गुड़ियों और खिलौनों आदि की रचना की होगी। इस कला को मनुष्य की अनुकरण प्रियता नामक मनोवृत्ति ने परिष्कृत कर आगे बढ़ाया होगा। सभ्यता के विकास से इन मूर्तियों आदि के आकार, प्रकार, भेदोपभेद तथा उनके निर्माण के नियम इस कला को

स्थयित्व देकर दूसरों के लिए अनुकरणीय वनाने के विचार से निर्धारित किये गये होंगे।

दैनिक अनुभव और दैनिक प्रत्यक्ष को आधारभूत करते हुए उनके उन्नत रूपों को कल्पनाजन्य सौन्दर्य के विचार से समुन्नत किया गया होगा और इस प्रकार मूर्तियों की कई श्रेणियाँ वन गई होंगी। एक श्रेणी तो आदर्श रूप में, दूसरी अनुकरणाभास के रूप में, तीसरी सत्य और स्वाभाविक रूप में आई होगी। कहा नहीं जा सकता कि देव मूर्तियों की कल्पना वास्तविक प्रत्यक्ष पर आधारित है अथवा कल्पनाजन्य है। खिलौनों की एक श्रेणी तो अनुकरणभास पर आधारित है किन्तु उसमें भी काल्पनिक आदर्शरूपता का प्रभावाभास प्राय: रहता है। तीसरी श्रेणी बहुधा वास्तविक तथ्य पर आधारित रहती है। जैसे किसी महापुरुष की स्मृतिके लिए उसके वास्तविक आकार, प्रकार, रूप-रंग को रखते हुए स्मारक के रूप में उसकी मूर्ति वनाई जाती है। फोटोग्राफी की कला से उत्पन्न चित्र भी इसी प्रकार के हैं। वे वास्तविक सत्य पर आधारित हैं। अनुमान तो यही कहता है कि देव-मूर्तियों की रचना में कल्पनाजन्य आदर्श सौन्दर्य भावना ही विशेष रूप में कार्य करती हैं। इसी लिए देव-मूर्तियों के अंग-प्रत्यंग आदि में आदर्श रूप प्राय: रहता है। दैवीशक्ति के प्रकारान्तर के विचार को लेकर विविध प्रकार के देवताओं और उनके रूपादि की आदर्श कल्पना और सौंदर्य भावना विकसित हुई होगी और उस आदर्श को नियम नियंत्रित करके व्यापक स्थायी और अनुकरणीय वनाने के विचार से मूर्तिकला के विविध नियमों को निर्धारित किया गया होगा।

जिस प्रकार मनुष्य पर किसी अच्छे या बुरे भाव या विचार का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार अच्छे और बुरे भावों को आभास रूप में व्यक्त करनेवाली मूर्तियों की रचना का भी प्रभाव

अनिष्ट और अभीष्ट रूप में अवश्यमेव पड़ता है। इसके आधार पर मूर्तियों की रूप रचना सम्बन्धी विशेष नियमों का निश्चितीकरण हुआ है और ऐसे नियम रक्खे गये हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि किसी देवता की मूर्ति में आकार-प्रकार रूप-रंग अंग-प्रत्यंग कैसे, कितने छोटे-बड़े, किस मुद्रा और भाव में रक्खे जायँ कि अभीष्टोद्देश्य की पूर्ति कर सकें।

यह बात अस्पष्ट हो जाती है जब मूर्ति रचना के सम्बन्ध में लिखे गये ग्रंथ देखे जाते हैं। इस विषय पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अग्नि-पुराण आदि कितने ही धर्म ग्रंथों आदि में बहुत विवेचन और वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी विषय से सम्बन्ध रखती है और विष्णुधर्मोत्तर पुराण के मूर्तिकला अध्याय पर आधारित है। सुयोग्य लेखक ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण के उस भाग के आधार पर उसका यथेष्ट विवेचन कर दिया है। साथ ही दूसरे ग्रंथों अथवा पुराणों से भी मूर्ति रचना सम्बन्धी आवश्यक और ज्ञातव्य उद्धरण दिये हैं।

सुयोग्य लेखक ने अपने विषय का गहरा अध्ययन किया है और आवश्यक सामग्री जो पुराणों आदि में इतस्ततः बिखरी हुई है परिश्रम से एकत्रित की है और उसके आधार पर यह सुन्दर पुस्तक प्रस्तुत किया है।

मूर्तिकला यद्यपि कला है और कला विशेष रूप से कर-कौशल अथवा प्रयोग पर ही आधारित रहती है। कला को पूर्णतया निर्धारित नियमों पर संचालित करना कठिन है। उसके लिए आधारभूत कुछ नियम अवश्यमेव रक्खे जाते हैं। किन्तु उस कला का कौशल नियमों से ही सर्वथा साध्य नहीं होता वरन् वह कलाकार का स्वाभाविक प्रतिभा प्रेरित उसके कलाकार नैपुण्य और अभ्यासपटुत्व पर ही आधारित रहता है। फिर भी प्रत्येक कला को दूसरों के लिए सुलभ साध्य करते हुए स्थायी और व्यापक

बनाने के विचार से नियमों की आवश्यकता होती है। बिना निश्चित नियमों के उस कला का यथेष्ट विकास और प्रचार-प्रसार सम्भव नहीं होता। इसलिए प्रत्येक कला नियमों के द्वारा नियंत्रित और निर्धारित की जाती है। नियमों के कारण कला का दुरुपयोग भी नहीं हो पाता। इसलिए प्रत्येक कला को उसके शास्त्रीय रूप की भी आवश्यकता होती है। भारत ने इस विषय पर बहुत विचार किया और चित्रकला, मूर्तिकला जैसी अन्यान्य समुपयोगी कलाओं से सम्बन्ध रखनेवाले अनिवार्योपादेय नियमों के साथ उन्हें शास्त्रीय रूप भी दिया है। जो सामग्री यहाँ एकत्रित की गयी है उससे इस कथन की पुष्टि हो जाती है। यह नितांतमेव ठीक है कि कोई भी कला पूर्ण रूप से नियम नियंत्रित नहीं हो सकती। क्योंकि उसका सम्बन्ध वस्तुतः प्रयोगाभ्यास से रहता है। फिर भी यह अत्यंत श्लाघ्य अथवा सराहनीय है कि इन कलाओं को लगभग पूर्ण रूप में नियम निर्धारित सा करने का स्तुत्य प्रयत्न भारत में किया गया था।

लेखक ने अपने आमुख में मूर्त्तिकला के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य बातों की ओर संकेत तो किया है, किन्तु कुछ आवश्यक बातें सम्भवतः प्रसंगेतर समझकर छोड़ दिया है। अच्छा होता यदि उन पर भी कुछ स्वल्प प्रकाश डाल दिया जाता। मूर्त्तिकला के विकास की विविध अवस्थाओं का यदि विशद विवेचन किया जाता तो हमारी समझ से और भी अधिक उपादेय होता।

साथ ही इधर की ओर जो पुरातत्वान्वेषण हुआ है और उसके कारण मूर्त्ति रचना पर जो प्रकाश पड़ा है उसका भी उपयोग यदि यथास्थान किया जाता तो और भी अधिक उपादेयता बढ़ती जाती। किन्तु ऐसे विषय तो स्वतंत्र गवेषणामूलक हैं और इन पर स्वतंत्र रूप में तुलनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टियों से विचार किया जा सकता है और स्वतंत्र पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। यह कार्य

वस्तुतः उन विद्यार्थियों अथवा साहित्य-सेवियों का है जो विश्व-विद्यालयों में विशेषतया गवेषणा का कार्य करते हैं। सुयोग्य लेखक ने प्रतिमा-निर्माण-कला सम्बन्धी सारी आवश्यक सामग्री एकत्रित करने के उद्देश्य से सराहनीय कार्य किया है और विशेषरूप में विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा बृहत् संहिता से सहायता ली है।

पुस्तक अपने विषय की मौलिक है। इसके लिए लेखक सराहना और साधुवाद का पात्र है। मालवीयजी ने अपना यह विचार मुझसे कई वर्ष पूर्व बतलाया था। मैंने उन्हें प्रेरित किया कि इसको कार्य रूप में परिणत कर दें। आज वह शुभ दिन आया जब यह कार्य इस पुस्तक के रूप में सम्पन्न हुआ। अतः मैं मालवीयजी को हार्दिक बधाई देता हूँ। मालवीयजी संस्कृत, हिन्दी और अँगरेजी तीनों भाषाओं के पण्डित हैं। विद्याप्रेमी हैं, व्यसनी हैं और उत्साही हैं। चित्रकला पर भी एक सुन्दर पुस्तक आपने लिखी है जो प्रकाशित हो रही है। आशा है अभी इन्हीं विषयों पर और भी अधिक गवेषणा के साथ कार्य करेंगे। वे इसके अधिकारी हैं।

अंत में मैं फिर उन्हें इस पुस्तक की सफलता पर साधुवाद देता हूँ।

विद्वज्जनकृपाकांक्षी
रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'
अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

निवेदन

भारतीय संस्कृति प्रागैतिहासिक काल में जन्म लेकर सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में पल्लवित होती हुई ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी तक अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। इसी युग में अधिकांश संस्कृतसाहित्य का सृजन हुआ तथा प्राचीन अनेक ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया। तत्कालीन साहित्य एवं भग्नावशेषों से हमें गुप्त कालीन संस्कृति के अन्य अंगों के साथ-साथ कला के विकास का पूर्ण आभास मिलता है। विद्वान् गुप्त नरेश तत्त्वान्वेषक ही नहीं थे अपितु कलापारखी भी थे। उनके संरक्षण में वास्तु एवं अन्य ललित कलाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। भारतीय संस्कृति का प्राण धर्म रहा है फलतः गुप्त कला का संवर्धन भी धर्म की गोद में ही हुआ है। सारनाथ और मथुरा से प्राप्त बुद्धमूर्त्तियों तथा देवगढ़ मन्दिर में उत्कीर्ण शिव, विष्णु एवं अन्य ब्राह्मण देवताओं की मूर्त्तियाँ गुप्तकालीन शिल्प के जीवित निदर्शन हैं। अन्य साहित्य के अतिरिक्त अधिकांश पुराणों की रचना भी इसी युग में हुई। इन पुराणों में संस्कृति के अन्तर्गत आनेवाले जिन विषयों का विवरण मिलता है उनमें मूर्त्ति शिल्प भी एक है। गुप्तकाल के मूर्त्ति शिल्प के निर्माण की विधि इन पुराणों में अन्तर्हित है। अपने पूज्य गुरुदेव वास्तुकलाविज्ञ महामहोपाध्याय डाक्टर प्रसन्नकुमार आचार्यजी के चरणों की कृपा से मेरी अभिरुचि पुराणों में हुई। फलतः श्रीविष्णुधर्मोत्तर के आधार पर यह पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है जिसमें मूर्त्तिकला संबंधी अन्योपलब्ध सामग्रियों का समुचित समावेश किया गया है।

इस पुस्तक के लिखने में सर्वाधिक प्रोत्साहन पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी तथा डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' से मिला है। वस्तुतः यह पुस्तक उन्हीं की प्रेरणा का स्थूल रूप है जिसके लिए मैं उनका चिर ऋणी रहूँगा। इसके अतिरिक्त मैं उन विद्वानों का भी आभारी हूँ। जिनके ग्रन्थों से इस ग्रन्थ के प्रणयन में कुछ भी सहायता मिली है। मैं श्री एच० पी० घोष (मैनेजिंग डाइरेक्टर, इंडियन प्रेस) का अत्यन्त ऋणी हूँ जिन्होंने कागज की समस्या के होते हुए भी इस पुस्तक के प्रकाशन का भार वहन किया। अन्त में श्री बी० एन० माथुर (अधीक्षक, प्रकाशन विभाग) भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सत्प्रयत्नों से पुस्तक शीघ्र प्रकाशित हो सकी है।

कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया
संवत् २०१७

बद्रीनाथ मालवीय

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

आमुख

लोगों का विश्वास है कि सतयुग, त्रेता तथा द्वापर में देवता[१] साधारणतः प्रत्यक्ष हो जाते थे; परन्तु कलियुग के कालुष्यप्रधान युग होने के कारण देवताओं का प्रत्यक्ष होना दुर्लभ हो गया है। अतः मूर्त्तिपूजा ही इस युग में चतुर्वर्गप्रदायिनी है। शास्त्रविहित सर्व-लक्षण-सम्पन्न प्रतिमा का निर्माण करके पूजन करना चाहिए क्योंकि लक्षणहीन मूर्त्ति की पूजा अनिष्टदायिनी होती है। इसीलिए विद्वान् को चाहिए कि चित्रसूत्र में जिस देवता का जो स्वरूप तथा लक्षण वर्णित है, उसी के अनुसार मूर्त्ति का निर्माण करा कर विधिपूर्वक पूजन करे। इससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है और पूजक इस लोक तथा परलोक में सर्व-सुख-सम्पन्न होता है। मार्कण्डेय जी बज्र से कहते हैं—"जो मनुष्य सुन्दर आकारवाली और लक्षणों से युक्त मूर्त्ति की पूजा करता है उसकी सभी कामनायें पूर्ण होती हैं, अतः इसमें ऊहापोह न करना चाहिए। इस लोक तथा परलोक में वह सदा सुखी रहता है। परन्तु जो व्यक्ति लक्षणहीन मूर्त्ति की पूजा करता है, उसके अनिष्ट बढ़ते हैं अतः ऐसी पूजा को त्याग देना चाहिए। हे महाराज यदुनन्दन! इस लोक में देवता लोग मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करते हैं; अभीष्ट सिद्ध करते हैं तथा शाश्वत स्वर्ग प्रदान करते हैं। इसीलिए सर्वथा मनुष्यों को देवताओं की पूजा करनी चाहिए।"

---

[१] विष्णुधर्मोत्तर तृतीय खंड १, ५-१४।

शिल्परत्न, श्री तत्त्वनिधि, कुमारतन्त्र, देवतामूर्त्तिप्रकरण आदि ग्रन्थों में मूर्त्ति-निर्माण के नियम दिये गये हैं तथा अग्नि, मत्स्य, कूर्म, मार्कण्डेय इत्यादि पुराणों में भी यत्र-तत्र इसका वर्णन आया है, परन्तु विष्णुधर्मोत्तर में प्रतिमाओं का विधान विशद रूप से किया गया है इसके तृतीय खंड में ४४ से ८५ अध्यायों तक अनेक भिन्न-भिन्न देवताओं के स्वरूप तथा लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है तथा उसके पूर्व के अध्यायों में प्रतिपादित विषय चित्रसूत्र, नृत्य, आतोद्य, गीत तथा छन्द शास्त्र आदि भी आनुषंगिक रूप से कहे गये हैं, क्योंकि ये सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

प्रतिमा क्या है—प्रतिमा का अर्थ तुल्यता, रूप या प्रतिबिम्ब है। ये शब्द सम्मिलित रूप से प्रतिमा में निहित विचारों के द्योतक हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से ही हिन्दुओं का ऐसा विश्वास है कि प्रतिमा सर्वशक्तिमान् परमात्मा की छाया या रूप है। वेदान्त के अनुसार ईश्वर निर्गुण है, उसका कोई रूप नहीं देखा गया। भारतीय संस्कृति के अमर गायक गोस्वामी तुलसीदास की पंक्तियों में इसी भाव की प्रतिध्वनि निकलती है :—

"विनु पद चलै सुनै बिनु काना,
कर विनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रसभोगी,
विनु बाणी वक्ता बड़ योगी ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा,
ग्रहै घ्राण विनु वास विशेखा।
अस सब भाँति अलौकिक करणी,
महिमा तासु जाय किमि वरणी ॥

परन्तु ऐसी भावना सिद्धान्तरूप में उच्चकोटि की होने के कारण सर्वसाधारण को बोधगम्य नहीं हो सकती, उसकी वास्तविक तृप्ति

तो सगुणोपासना द्वारा ही हो सकती है। अतः परमात्मा को सगुण मानकर उसे संसार का सर्गस्थितिसंहारकारी वतलाया गया है तथा प्रतिमा ईश्वर का प्रतिविम्व या रूप मानी गई है। इसीलिए उस सर्वशक्तिमान् सत्ता को मूर्त्ति में निवास करने के लिए मन्त्रों द्वारा उसका आवाहन किया जाता है, जिसे प्राणप्रतिष्ठा कहते हैं।

प्रतिमा उपासना का साधन—"हे कृष्ण! मनुष्य का चित्त चञ्चल है, एक स्थिति में वह स्थित नहीं रह सकता, इसके अतिरिक्त वह वड़ा वलवान और दृढ़ है अतः उसको वश में करना मैं वायु की भाँति दुष्कर मानता हूँ।"[1] अर्जुन के इस कथन की पुष्टि करते हुए भगवान् कृष्ण ने अभ्यास और वैराग्य को ही मन को वश में करने का साधन वतलाया है।[2] महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में इस मत का समर्थन किया है।[3] योग द्वारा ही प्रतिक्षण चित्त में उत्पन्न होने वाले भावों या विकारों को रोका जा सकता अथवा समाधि या ईश्वर [4]प्रणिधान (ईश्वर की भक्ति) से मन को स्थिर किया जा सकता है। इसका आशय केवल चित्त वृत्ति के निरोध से ही नहीं, वरन् पूर्णतया ईश्वर पर अपने को समर्पित करने से है। समाधि

श्रीमद्भगवद्‌गीता में वीर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा है :—

[1]चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

उसके उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं :—

[2]असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥ (अध्याय ६। ३४, ३५)

[3]अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (पातञ्जल योगसूत्र १। १२)

[4]ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (पा० यो० १। २३)

के मार्ग में राग ही विघ्न उपस्थित करता है। विपत्ति से बचने और इष्ट प्राप्ति में अपने को समर्थ समझने के कारण राग की उत्पत्ति होती है। इस मिथ्या भ्रम का परित्याग करने से शुद्ध-वैराग्य जागृत होता जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको ईश्वरेच्छा पर छोड़ दे और कार्य के परिणाम के लिए चिंतित न हो। परिणाम का कोई ध्यान न करके कर्तव्य-परायणता तथा विश्वास ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। जैसे प्रणव उसका सूक्ष्म प्रतीक है वैसे ही प्रतिमा स्थूल प्रतीक है। [१]प्रणव उस परमात्मा का वाचक शब्द है। वेद-पुराण आदि सभी धर्म-ग्रन्थ ओ३म् को परम रहस्यमय तथा सर्वशक्तियों का मूलस्रोत कहते हैं। यह ईश्वर वाचक कहा जाता है इसलिए नहीं कि लोग इस अर्थ में उसका प्रयोग करते हैं, वरन् ओ३म् स्वरूप ही ईश्वर है 'ओमित्येकाक्षरं' ब्रह्म और इसके कलेवर में संसार का सार निहित है। अतः चित्त को एकाग्र करने का साधन प्रतिमा पर सतत दृष्टि रख कर [२]जप करना है। बार-बार नाम रटने को जप कहते हैं परन्तु 'मन्त्रार्थगतमानसः' अर्थात् मन्त्र के अर्थ में मन लगाकर तथा शब्दों और अक्षरों के अर्थानुगत चित्त करके जप करना चाहिए। तन्त्रों के अनुसार जप की सवर्त्तोम विधि मानसिक है क्योंकि मानसिक जप तो कार्यतत्पर होने में यहाँ तक कि निद्रा में भी नहीं रुकता। इस प्रकार चित्तवृतियाँ सांसारिक विषयों से व्यावृत्त होकर ईश्वर की ओर आकृष्ट होने लगती हैं। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि चित्त एकाग्र करने का सबसे सरल और उत्तम उपाय मूर्त्ति ही है। स्वरूप और लक्षणों से युक्त प्रतिमा पर सतत दृष्टि रखने से उस देवता की ओर चित्त

---

[१]तस्य वाचकः प्रणवः। पा० यो० १। २७

[२]तज्जपस्तदर्थभावनम्। पा० यो० १। २८

आकृष्ट होता है और वही शोभा हृदय-पटल पर भली-भाँति अङ्कित हो जाती है। इसी प्रकार निरंतर अभ्यास से स्वरूप में भी स्थिति हो सकती है। भारतवर्ष में बड़े-बड़े योगियों ने भी मूर्त्ति पूजा को चित्त के एकाग्र करने का उत्तम साधन माना है। यहाँ तक कि वेदान्तियों ने भी इसका समर्थन किया है। जगद्गुरु शंकराचार्य स्वयं एक बड़े वेदान्ती होकर भी मूर्त्ति की पूजा करते थे। महायान पथावलम्वी, जो बौद्धों में. दर्शन शास्त्र के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, मूर्त्तिपूजा का समर्थन करते हैं। वास्तव में उपासना के लिए प्रतिमा आवश्यक है। निर्गुण ब्रह्म इन्द्रिय और विषयों के परे होने से सर्वसाधारण के लिए पूजा की वस्तु नहीं हो सकता। धर्मग्रन्थों में मुख्यत: श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार की पूजा की कठिनता बतलाई गई है :—

"निराकार ब्रह्म में आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषों के साधन में क्लेश विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियों से अव्यक्त विषयक गति दु:खपूर्वक प्राप्त की जाती है अर्थात् जव तक शरीर में अभिमान रहता है तव तक शुद्ध सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्म में स्थिति होनी कठिन है।"

अध्यात्म रामायण में भी इसी का समर्थन है। यथादृश्याभावे जप: कथम्। इस प्रकार उपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी परिभाषा है "सगुणविषयमानसव्यापार: उपासनम्" अर्थात् सगुण ब्रह्म में होने वाले मन के व्यापार को उपासना कहते हैं। ब्रह्म का सगुण रूप भक्तों को अत्यन्त उपकारी सिद्ध हुआ है जैसा कि रामोपनिषत् में कहा गया है :—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण:।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते ॥ गीता० अ० १२। ५

अर्थात् चिन्मय अद्वितीय, सम्पूर्ण शरीररहित ब्रह्म की कल्पना उपासकों के लिए है।

वेदान्त ग्रन्थों में उपासना कई प्रकार की कही गई है। सम्पदुपासना, प्रतीकोपासना और संवर्गोपासना। मूर्त्ति ही उपासना की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करने का सरल साधन है। देवता का ध्यान करना ही उपासना का मुख्य उद्देश्य है और उसकी पूर्त्ति यथोचित रीति से मूर्त्ति द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए हिन्दुओं ने देश के सर्वोत्तम स्थानों को उपासना के लिए चुन लिया है। समुद्रतट, नदियों के संगम, वन में बड़ी-बड़ी नदियों के तट तथा पर्वत [1]शिखर आदि ये सब स्थान प्राकृतिक दृश्यों के कारण रमणीय और चित्ताकर्षक लगते हैं और ईश्वर की कला का पूर्ण प्रतिबिम्ब यहाँ दृष्टिगोचर होता है। ऐसे निर्जन स्थानों में चित्त समाहित करने की अधिक सुविधायें रहती हैं। लोगों ने मूर्त्तियों को अधिक चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। प्रायः मूर्त्तियों को भी समाधिस्थित अवस्था में निर्मित किया गया है, जिससे मनुष्यों पर इसका गहरा प्रभाव पड़े और वे भी उसी स्थिति को प्राप्त करने की सतत चेष्टा करें। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य सुन्दर वस्तु से आकर्षित होता है। अतः मनुष्य के चित्त को आकर्षित करने के लिए कोई रुचिकर वस्तु होनी चाहिए जिसके माध्यम में श्रद्धा उत्पन्न हो, वही ध्यान करने का उत्तम साधन हो सकता है। अन्यथा कोई भी दैवी चिह्न या सिद्धांत उपासना में इतना उपकारक नहीं हो सकता, जितना उच्च कलायुक्त मूर्त्ति हो सकती है।

मूर्त्ति पूजन के लिए बनाई जाती है—अन्य देशों में मूर्त्तियाँ भवन के सजावट के लिए भी बनाई जाती थीं,

---

[1] उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां।
धिया विप्रोऽजायत॥ ऋग्वेद।

परन्तु भारत में केवल पूजन के हेतु ही इनका निर्माण होता था। सांसारिक सजावट के लिए मूर्त्तियाँ बहुत कम प्रयोग में लाई जाती थीं। भास के प्रतिमा नाटक में मृत राजाओं की मूर्त्तियों के देवकुल का उल्लेख मिलता है। एक मन्दिर में बहुत-सी मूर्त्तियों का संग्रह निषिद्ध है। एक देवता के लिए एक पृथक् मन्दिर बनवाने की आयोजना करनी पड़ती थी, जिसमें देवता के साथ उनकी पत्नी तथा गण भी होते थे। शिल्पसंहिता तथा शिल्परत्न आदि ग्रन्थों में केवल पूजन के हेतु ही मूर्त्ति-निर्माण का आदेश किया गया है। इसीलिए मूर्त्ति के खंडित होने पर उसको गंगा में प्रवाहित कर दिया जाता था। उसकी पूजा करना निषिद्ध है। खंडित मूर्त्ति देवसान्निध्यरहित होने से नितान्त अनावश्यक समझी जाती थी।[१]

मूर्त्तिपूजा की प्राचीनता—अनुमान है कि भारत में मूर्त्तिपूजा वैदिक काल के लगभग प्रचलित हुई है। वेदों में मूर्त्तियों के ज्ञान और उपयोग के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। देवी-देवताओं का संस्कार वर्णन केवल कोरी कवि-कल्पना नहीं है वरन् उनके लिए देवालयों तथा वेदियों का निर्माण होता था और विधिपूर्वक उनकी पूजा होती थी। वास्तव में जो रूप वर्णन हम पुराणों या शिल्पशास्त्रों में पाते हैं उसके जन्मदाता वेदों को ही मानना पड़ेगा। क्योंकि देवताओं के हाथ, पैर, कवच शस्त्रवस्त्र, रथ तथा अन्यान्य वाहनों के वर्णन वेदमन्त्रों में ही मिलते हैं। उसी के आधार पर पुराणों और शिल्पशास्त्रों में वर्णन किया गया है। यह बात अवश्य सत्य है कि पौराणिककाल में अन्य देवताओं की भी पूजा का विधान किया गया है, जिनका वर्णन वेदों में नहीं है। अपने अपने मतों के अनुसार ऋषियों ने देवताओं की कल्पना कर ली और उनकी मूर्त्तियाँ बनने लगीं।

---

[१] खण्डिते स्फुटिते दग्धे भ्रष्टे मानविवर्जिते।
दशस्वेतेषु नो चक्रुः सन्निधानं दिवौकसः॥

वैदिक काल में मूर्त्तिपूजा—वैदिक काल में मूर्त्तिपूजा होती थी या नहीं इस विषय पर यूरोप के विद्वानों में मतभेद है। प्रोफेसर मेक्समुलर का कथन है कि वैदिक समय में लोग देव मूर्त्तियाँ नहीं बनाते थे। वैदिक धर्म में मूर्त्तियों का कोई स्थान नहीं है। भारत में मूर्त्तिपूजा गौण रूप से है और आदर्श देवताओं की प्रारम्भिक पूजा की यह अधमावस्था है। इसके विपरीत डाक्टर बोलिनसन को वैदिक मन्त्रों में देवमूर्त्तियों का स्पष्ट निर्देश मिलता है। वेदों का लक्ष्य शिल्पशास्त्र लिखने का नहीं है, इसलिए उनसे मूर्त्ति विधान के नियमों की आशा करना नितान्त अनुचित है। जहाँ तक मूर्त्तियों का सम्बन्ध है हम देवताओं के मानवरूप के वर्णन की ही आशा कर सकते हैं और इसका यहाँ अभाव नहीं है वरन् देवी-देवताओं के अङ्ग, वस्त्र, भुजा, आयुध तथा वाहन का विशद वर्णन मिलता है। वेदों का उद्देश्य धर्म के नियम विधान का नहीं है, अतः पवित्र वस्तुओं के संस्कार के सम्बन्ध में बहुत कम वर्णन मिल सकता है। इसके लिए पृथक् ग्रन्थ हैं, जिनमें उनका विशद वर्णन मिलता है। तद्विषयक ग्रन्थों में मूर्त्ति तथा मूर्त्तिपूजा का प्रचुर उल्लेख मिलता है। वेदों में भी यत्र-तत्र ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनमें मूर्त्तियों का अस्तित्व स्पष्ट झलकता है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में मूर्त्तियों के अनेक उल्लेख हैं एक स्थान पर सूर्य को हिरण्यपाणि (सोने के हाथ वाला) कहा गया है। सूर्य की मूर्त्ति के हाथ किसी दानव ने तोड़ डाले थे, तो देवताओं ने उसके स्थान पर सोने, चाँदी के हाथ बनवा दिये थे।[1] अग्नि को लोहे, सोने, चाँदी, का [2]देहवाला तथा [3]वाहकों से लिये

---

[1]देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना।
वा० सं० अ० ५१ क० १६

[2]याते अग्नेरजः शया तनूर्वर्षिष्ठा

[3]नृषत्नृषु वाहकत्वेन सीदतीति। भाष्य

जाते हुए बतलाया गया है। [१]रात्रि और उषा के अधिष्ठातृ देवता की सुन्दर प्रतिमा तथा लकड़ी की मूर्त्ति [२]बनाने वाले का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तरीय संहिता में यज्ञ के सम्बन्ध में मूर्त्ति का उल्लेख इस प्रकार मिलता है, "यज्ञ[३] की रक्षा के लिए वह एक सुवर्णमय मनुष्य की स्थापना करता है" यह देवताओं का मन्दिर है। इसी प्रकार देवमन्दिरों का संकेत भी इसी संहिता में वृन्दावन भट्टाचार्य ने पाया है। अथर्ववेद संहिता में देवालय [४]स्थापना का उल्लेख मिलता है। सामवेद में [५]मूर्त्ति का निर्देश इस प्रकार मिलता है—"हम लोग शत्रु-संहारक अग्नि का सान्निध्य ग्रहण करते हैं जो अर्च्च के पुत्र श्रुतवान के रूप में अत्यन्त देदीप्यमान होते हुए प्रकट हुआ।" इसी प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों में भी मूर्त्ति-पूजा के कुछ प्रमाण मिलते हैं।

यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि वेदों की भाषा सीधी न होने से सरलता से हृदयंगम नहीं हो सकती वरन् उसका अर्थ समझने के लिए खींचतान तथा अन्य निर्देशों का आश्रय लेना पड़ता है। शब्द व्युत्पत्ति से उसका अर्थ नहीं लग सकता। यदि इस बात को ध्यान में रखकर अध्ययन किया जाय तो मूर्त्ति सम्बन्धी अंश स्पष्ट और निर्णयात्मक रूप से समझ में आ जायेंगे। निम्न-लिखित स्तोत्रों से हम पता लगा सकते हैं कि वैदिक-काल में लोग मूर्त्ति-पूजा जानते थे या नहीं। "वरुण सुवर्ण कवच पहने हुए हैं

[१]सुपेशसा सुशिल्पे बृहती उभे नक्तोषसा
[२]देवलोकाय पेशितारम् ....
प्रतिमाद्यवयवकर्त्तारम्। महीधर भाष्य
[३]Keith's Veda Black Yajur school vol. II p. 411
[४]अथर्ववेद २, २, २, ४, ४०—१; ८। ५। १। ४
[५]सामवेद १, ६, ५, ७, ६,

तथा उसको भड़कीले वस्त्र पहना दिये हैं और उसके गुप्तचर चारों ओर बैठे हुए हैं[१]।" "अनेक रूप, उग्र, भूरे रंगवाला वह दृढ़ भड़कीले और सुनहले अवयवों युक्त चित्रित किया गया है[२]।" "दो राजा जो कभी बुराई नहीं करते दृढ़ और सहस्र स्तम्भों पर अवलम्बित उच्चतम आसन पर बैठते हैं।"[३] "मन्त्रों द्वारा आहूत देवगण आकर संसार को पवित्र जल से प्रसन्न करें। यज्ञों में उत्पन्न मनुष्य के आकार के अनेक द्वार इस यज्ञ में आकर उपस्थित हों"[४]।

ब्राह्मण और आरण्यक काल में मूर्त्तिपूजा—वेदों की इस शाखा में मूर्त्तियों के प्रचार के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। षड्विंश ब्राह्मण में देवालयों के हिलने तथा देवमूर्त्तियों के काँपने, हँसने, रोने, नाचने, पसीना निकलने तथा टूटने का उल्लेख मिलता है।[५] इसी प्रकार [६]देवमलीमुच (देवप्रतिमाओं को चुराने-वाले) शब्द से भी यही सिद्ध होता है।

शतपथ ब्राह्मण सुवर्ण के पुरुष की मूर्त्ति बनाने का आदेश

---

[१] विभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्तुनिर्णिजम् परिस्पशो निषेदिरे।
ऋग्वेद १.२५.१३

[२] स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरुप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिर्पिपिशे हिरण्यैः।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम्॥
ऋग्वेद २.३३.६

[३] राजानावनभि द्रुहाध्रुवेसदस्युत्तमे।
सहस्रस्थूण आसाते॥ ऋग्वेद २.४१.५

[४] ऋग्वेद ३.४.५

[५] देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति, नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, स्विद्यन्ति, उन्मीलन्ति। ५.१०

[६] पंचविंश ब्राह्मण (२३-१८,१)

करता है तदनन्तर कमल-दल पर स्थित सुवर्णमयी रश्मियों से युक्त सूर्य की मूर्त्ति बनाकर उस पर पुरुष की मूर्त्ति स्थापित करने का आयोजन किया गया है।[१] उसी ब्राह्मण में रात्रि, काल-देव, तथा अन्य मूर्त्तियों को ईंटों पर खोदने का उल्लेख मिलता है।[२] गार्हपत्यागार में 'देवता के समीप शयन', 'देवताओं का यज्ञोपवीत धारण करना', 'व्याघ्रचर्मावृत पिनाकपाणि शिव' इत्यादि वाक्य मूर्त्ति की ओर संकेत करते हैं। ऋग्वेद के शङ्खायन ब्राह्मण में यत्र-तत्र मूर्त्तियों का निर्देश किया गया है। अनेक अंश ऐसे उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे मूर्त्ति की प्रामाणिकता सिद्ध होती है उदाहरणार्थ—"यदिलामुपह्वयते यन्मार्जते" अर्थात् वह इला को सम्बोधित करता है और माँजता है। "पाणिप्रतिच्छेद तस्मै हिरण्मयौ प्रतिदधुस्तस्माद्धिरण्यपाणिरिति" अर्थात् सूर्यदेव के हाथ टूटने पर उन्होंने दो सुवर्णमयी भुजाएँ प्रदान कीं।

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मणों में मूर्त्तियों के सम्बन्ध में

---

[१] अथ पुष्करपर्णमुपदधाति ...... अथ रुक्ममुपदधाति । असौ वा आदित्य एष रुक्म एष हीमाः प्रजा अतिरोचते रोचो है तम् रुक्म इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति, स हिरण्मयी भवति परिमंडल एकविंशति निर्बाधस्तस्योक्तो बन्धुरधस्तान्नि-र्बाधमुपदधाति रश्मयो । वा एतस्य निर्बाधा अधस्तादुवा एतस्य रश्मयः। .... अथ पुरुषमुपदधाति। स प्रजापतिः योहाग्नि स यज-मानः। हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यम् ज्योतिरग्नि अमृतम हिरण्यम्। अमृतमग्निः पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः। तम् रुक्म उपदधाति असौ वा आदित्य एष रुक्मो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषः स एष तमेवैलदुपदधाति।

[२] तद्याः परिश्रितः रात्रिलोकास्ताः रात्रीणामेव साप्तिः क्रियते रात्रीणां प्रतिमाताः षष्ठीश्च त्रीणि शतानि च भवन्ति। शतपथ ब्राह्मण १०.३, १३-१६, २२०

अनेक वाक्य मिलते हैं जैसे देवताओं के सामने [१]उद्गाता का लेट जाना। 'अग्नि [२]रथ पर स्थित है', 'वे देवता [३]रथ पर हैं', 'होता को उषा की दो [४]मूर्त्तियों की पूजा करनी चाहिए' 'सरस्वती [५]इला और भारती की तीन मूर्त्तियाँ' 'दिन और रात्रि के अधिष्ठातृ देवताओं की दो [६]मूर्त्तियाँ', 'सुवर्णनिर्मित [७]तीन देवियाँ', 'त्वष्टा विविध [८]मूर्त्तियों का विधाता है', 'रथ पर स्थित [९]ये सब देवता यजमान को पुण्य प्रदान करते हैं'। आरण्यक भी मूर्त्तियों के उल्लेख से भरे पड़े हैं। ऐतरेय आरण्यक में इन्द्र के देह-निर्माण का इस प्रकार वर्णन है—'इन्द्रात् परितन्वं ममे' मैंने इन्द्र के शरीर का (मूर्त्तिरूप में) निर्माण किया है। तैत्तिरीय आरण्यक में मूर्त्तियों के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं जैसे देवताओं के वस्त्र पीले रँग में [१०]रँगे हुए होते थे। आजकल भी शुभ कार्य में पीले रंग में रँगे हुए वस्त्र ही धारण किये जाते हैं। रुद्रों का श्वेत वस्त्र होता था। कश्यप की शिल्पकला में [११]सात सूर्य प्रदर्शित किये

---

[१]तैत्तिरीय ब्राह्मण (आनन्दाश्रम) पृष्ठ १०८

[२]"अंकौध्यंकावभितोरत्नम्... ....नोऽग्वग पप्रथः पारयन्तु" एतन्मन्त्रगतमग्निपदं रथावस्थित देवतापरत्वेन अचष्टे सायण। पृ॰ १३३

[३]"या एव देवता रथे प्रविष्टाः"। पृष्ठ १३३

[४]पृष्ठ ६३५

[५]पृष्ठ ६४१

[६]पृष्ठ ६५४

[७]पृष्ठ ६८१

[८]पृष्ठ ११६४

[९]पृष्ठ १२४६

[१०]"सारागवस्त्रैर्जरदद्धः प्रथमः स्मृतः" देवतानां वस्त्राणि च शृंगारार्थं हरिद्रादिद्रव्यरञ्जितानि भवन्ति।—सायन

[११]यत्ते शिल्पं पश्यप रोचनावत्.........यस्मिन् सूर्य्या अर्पिताः सप्तसाकम्।

गये हैं। "विश्वकर्मा तुम्हें सूर्य की मूर्त्तियाँ प्रदान करें" "त्वष्टा तुम्हें [१]मूर्त्तियाँ प्रदान करें" "विद्वान् त्वष्टा मूर्त्तियों का विधाता" 'तुम एक प्रतिमा हो [२]" वैदिक यज्ञों में कुछ ईंटे मूर्त्तियों के अवलम्ब के लिए रक्खे जाते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में इन ईंटों के विषय में वर्णन है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में भारतवासी मूर्त्तिपूजा से अनभिज्ञ नहीं थे वरन् वे बहुधा मूर्त्तिपूजा करते थे। तदनन्तर पौराणिक काल में भी मूर्त्तिपूजा का क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यहाँ तक कि रामायण तथा महाभारत के समय में यह व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है। अनेक स्थलों पर उसके प्रमाण मिलते हैं जैसा कि आगे दिखलाया जायगा।

सूत्र साहित्य में मूर्त्ति—गृह्य सूत्र तथा श्रोतसूत्र दोनों में ही देवमूर्त्तियों के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। एक स्थल पर मूर्त्ति स्थापित करने तथा देवालय निर्माण करने की चर्चा है, जिससे सिद्ध होता है कि सूत्र-काल में मूर्त्ति-पूजा जनसाधारण में पर्याप्त रूप से प्रचलित थी[३]। बोधायन के गृह्यसूत्र से पता चलता है कि उस काल में अनेक देवताओं की पूजा होती थी। मूर्त्ति स्थापित करने के सम्बन्ध में नित्य स्नान कराने तथा पूजा की विधियों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। विष्णु, महापुरुष,[४] विनायक तथा यम की

[१]विश्वकर्मा व अदित्यैरुत्तरत उपदधताम्।
त्वष्टा वो रूपैरुपरिष्टादुपदधताम्।

[२]प्रतिमा असि

[३]देवकुलम्..........। शाङ्खायन गृह्यसूत्र।

[४]अथातो महापुरुषस्याहरहः परिचर्य्याविधिं व्याख्यास्याम: ....देवस्य प्रतिकृतिम् कृत्वा। पृ० २४३
अथातो विष्णुप्रतिष्ठाकल्पं व्याख्यास्यामः। पृ० २३८
अथातो विनायककल्पं व्याख्यास्यामः अथातो। पृ० २७८
यमकल्पं व्याख्यास्यामः। बोधायन गृह्यसूत्र गवर्न्मेंएट ओ. सीरीज, मैसूर पृ० २८५

चर्चा इस ग्रन्थ में मिलती है। लेखक ने सदैव सुवर्ण प्रतिमा का उल्लेख किया है जो उसके समय में अधिक प्रचलित थी। इस ग्रन्थ में ग्रामदेवताओं का भी उल्लेख है। अथर्ववेद के कौशिक सूत्र में कहा गया है कि देवता लोग काँपते हैं, हँसते हैं, रोते हैं, नाचते हैं इत्यादि। [१]अन्यत्र कहा गया है कि गाँव, घर, नगर, क्षेत्र तथा देवालय[२] जहाँ भी पिशाच हों उसका उपाय करना चाहिए और उसके निवारण के साधन भी बतलाये गये हैं। आश्वलायन गृह्य सूत्र में भी मूर्त्तिपूजा के अकाट्य प्रमाण मिलते हैं। गृहदेवताओं का तो विशेष रूप से उल्लेख है। उसी ग्रन्थ के गृह्य परिशिष्ट में ग्रहों की प्रतिमा के विषय में चर्चा की गई है तथा उनके निर्माण करने की सामग्रियों का भी उल्लेख किया गया है।

पाणिनिसूत्र—पाणिनि ने, जिनका समय ईसा से पूर्व छठवीं शताब्दी के लगभग माना जा चुका है, एक सूत्र में (जीविकार्थेचापण्ये) ५.३.९९ निर्देश किया है कि प्रतिकृतियाँ जो विक्रय के निमित्त नहीं होतीं वरन् जीविका के लिए होती हैं, कन् अन्त में ग्रहण नहीं करती अर्थात् कन् का लोप हो जाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में "इवे प्रतिकृतौ" ५।६।९६ एक सूत्र है, जिसका सम्बन्ध मूर्त्ति से है। सूत्र के अनुसार कन् का अर्थ हैं 'समानता' वस्तु की प्रतिकृति बतलाने में इसका प्रयोग होता है जैसे अश्व इव प्रतिकृतिः अश्वकः। अश्वकः अश्व की प्रतिकृति काष्ठ और मृत्तिका इत्यादि में की जाती है। इस सूत्र के टीकाकार अनुमान करते हैं कि ये अविक्रेय वस्तुएँ देवमूर्तियाँ ही हैं। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के

---

[१] दैवतेषु नृत्यत्सु च्योतत्सु हसत्सु गायत्सु।

(कौशिकसूत्र।

[२] गृहे ग्रामे वा पत्तने क्षेत्रे वा देवगृहे वा यत्र क्वचित् पिशाचशंकास्ति..........

समय में देवता तथा देवियों की मूर्त्तियाँ हाटों में बेची नहीं जाती थीं वरन् जीविका के लिए काम में लाई जाती थीं। जिनके पास ये मूर्त्तियाँ होती थीं, वे दान के सत्पात्र समझे जाते थे।

धर्मशास्त्र—मनु के समय में क्षेत्रों की सीमा बाँधने के लिए और वस्तुओं के साथ साथ देवालय[१] भी काम में लाया जाता था। देशों के विजय के अनन्तर देवता[२] और ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। उन दिनों मूर्त्ति तोड़ना एक बहुत बड़ा अपराध समझा जाता था जिसके लिए कड़ा[३] दण्ड दिया जाता था। गौतम धर्म-सूत्र में एक स्थल पर स्पष्ट कहा गया है कि देवता और गायों की ओर देखते हुए[४] लघुशंका या शौच न करना चाहिए। देवालय तथा चौरास्ते[५] की प्रदक्षिणा करने का उल्लेख मिलता है। अन्यत्र उल्लेख है कि शालग्राम[६] पर चढ़े हुए कुंकुम तथा चन्दन जो अपने शरीर पर धारण करता है, वह मुक्त हो जाता है। इनके अतिरिक्त और भी उल्लेख गौतमधर्मसूत्र में ही मिलते हैं यथा 'शुद्ध क्षेत्रती-

---

[१]तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्य्याणि देवतायतनानि च॥
मनुस्मृति ८। २४८

[२]जित्वा सम्पूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
मनुस्मृति ७। २०१

[३]संक्रमध्वजयष्ठीणां प्रतिमानाञ्च भेदकः।
मनु ९। २८५

[४]न......देवता गाश्च प्रतिपश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्यानि व्युदस्येत्
—गौतम धर्मसूत्र

[५]प्रशस्तमंगल्यदेवायतनचतुष्पथादीन् प्रदक्षिणमावर्तेत। (गौतम-धर्मसूत्र)

[६]शालग्रामशिलालग्नं कुंकुमं चन्दनं वस्तु देहे धारयति स मुक्तो भवति। (गौतमधर्मसूत्र)

र्थेषु देवता सन्निधौ' अर्थात् शुद्ध स्थान, तीर्थ और देवता के समीप 'ततो देवगृहं गत्वा' तब देवताओं के घर जाकर इत्यादि।

इसी प्रकार आपस्तम्भ धर्मसूत्र में भी मूर्त्तिपूजा के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण मिलते हैं। एक स्थल पर कहा है कि पूजा में समाधि से विशेष फल है [1]। अन्यत्र देवताभिमुख होकर मूत्रपुरीष [2] करने तथा अग्नि ब्रह्मादि देवता की ओर पैर फैलाने [3] का निषेध किया गया है।

रामायण और महाभारत में मूर्त्ति—रामायण और महाभारत में मूर्त्तियों का उल्लेख कई स्थलों पर किया गया है। यहाँ तक कि यत्र-तत्र सम्पूर्ण अध्याय ही तीर्थयात्रा [4] के विषय में अर्पित कर दिये गये हैं। महाकाल, भीमा, त्रिशूलपाणि, कामाख्य, वामन आदित्य, सरस्वती, धूमावती कालिका, भद्रकर्णेश्वर तथा अन्य बहुत से देवी देवताओं का वर्णन मिलता हैं। जिन स्थानों के सम्बन्ध में इनका उल्लेख है, वे इतने प्राचीन हैं कि अब उनका पता लगाना कठिन है। अन्यत्र अध्याय में मूर्त्तियों के [5] काँपने, हँसने,

---

[1] समाधिविशेषाच्छ्रुतिविशेषाश्च पूजायाम् बलविशेषः (आपस्तम्भ धर्मसूत्र)

[2] ब्राह्मणगा देवताश्चाभिमुखो मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत्। (आ० ध०)

[3] अग्निमयो ब्राह्मणगा देवता नाभिप्रसारयति। (आ० ध०)

[4] प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपत्तनं व्रजेत्।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै॥
महाकालं ततो गच्छेत् नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत्॥
महाभारत वनपर्व अ० ८२।४७, ४८

[5] देवताप्रतिमाश्चैव प्रकम्पन्ते हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरश्चाक्ष्यैः स्विद्यन्ति प्रपतन्ति च॥
भीष्म पर्व अ० २.२६

रक्त वमन करने, गिरने आदि का निर्देश मिलता है। महाभारत का प्रत्येक पढ़नेवाला एकलव्य तथा भीम के आख्यान से तो अवश्य परिचित होगा। गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य को शस्त्रविद्या पढ़ाना स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह शूद्र था। इस पर वह द्रोणाचार्य की मूर्त्ति बनाकर विधिपूर्वक पूजन करके शस्त्र विद्या सीखने लगा और अन्त में उसने धनुर्विद्या में ख्याति पाई। इसी प्रकार लौहनिर्मित [१]भीम की मूर्त्ति का उल्लेख है। महाराज युधिष्ठिर ने विशालकाय भीम की प्रतिकृति निर्मित करा के धृतराष्ट्र के आलिङ्गन हेतु भेजी थी। रामायण में भी कई स्थानों पर मूर्त्तियों का उल्लेख मिलता है। जब भगवान् रामचद्र जी के अभिषेक के लिए पुष्य नक्षत्र में मुहूर्त निश्चित हुआ तो वे माता के दर्शनार्थ महल में गये। वहाँ पर [२]उन्होंने माता को नियम में स्थित तथा समयोचित रेशमी साड़ी पहने देवतागार में लक्ष्मी की प्रार्थना करते देखा तथा देवी कौशल्या ने पुत्र के हित की कामना से प्रातः काल विष्णु की पूजा की[३]। एक स्थल पर मूर्त्तियों के काँपने

---

[१] तस्य संकल्पमाज्ञाय भीमं प्रत्यशुभं हरिः।
भीममाक्षिप्य पाणिभ्यां प्रददौ भीममायसम्॥
प्रागेव तु महाबुद्धिर्बुद्ध्वा तस्येङ्गितं हरिः।
संविधानं महाप्राज्ञस्तत्र चक्रे जनार्दनः॥
उपगुह्यैव पाणिभ्यां भीमसेनमयस्मयम्।
बभञ्ज बलवान् राजा मन्यमानो वृकोदरम्॥

महाभारत स्त्रीपर्व अ० ११, १५-१७

[२] तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम्॥

अयोध्या० २.४.३०

[३] कौशल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥

अयोध्याकांड अ० ४,३१

का उल्लेख मिलता है। यथा-प्रतिमाश्च प्रकम्पन्ते अर्थात् मूर्त्तियाँ काँपती हैं। लङ्का में मन्दिरों का उल्लेख किया गया है जिससे स्पष्ट है कि मन्दिरों में मूर्त्तियाँ स्थापित की जाती थीं तथा उनकी विधिवत् पूजा होती थी। युद्धकाण्ड में भगवान् रामचन्द्र जी रावण का वध करके लौटते समय सीता जी को सेतुबन्ध रामेश्वर[1] का दर्शन कराया तथा शिव जी की कृपा से अपनी विजय-घोषणा की। सेतुबन्ध रामेश्वर का दर्शन सर्वपापनाशक है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र और मूर्त्ति—प्राचीन काल में मूर्त्ति-पूजा जनसाधारण में प्रचलित थी इस कथन की पुष्टि के अनेक प्रमाण कौटिलीय अर्थशास्त्र[2] में मिलते हैं। जिनमें मुख्य मुख्य देवताओं के वर्णन मिलते हैं। एक स्थान पर उल्लेख है कि नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, वैश्रवण, अश्विनी-कुमार, लक्ष्मी तथा सरस्वती के गृह स्थित होने चाहिए और कोनों में दिक्पालों की मूर्त्तियाँ स्थापित की जानी चाहिए। उसी प्रकार मुख्य द्वार जैसे ब्राह्म ऐन्द्र, याम्य और सैना-पत्य सौ धनुष के अन्तर पर निर्मित करना चाहिए तथा पूजा और यात्रियों के दिक्पालों को अपनी अपनी दिशाओं के अनूकूल स्थापित करना चाहिए।

---

[1]अत्र पूर्वं महादेवप्रसादमकरोद्विभुः ।
एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ॥
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ।
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
(रामायण लंकाकाण्ड अ० २५, २०-२१)

[2]अपराजिता प्रतिहत जयन्त वैजयन्त कोष्ठकान् शिववैश्रवणाश्विश्रीमदिरागृहे च पुरमध्ये कारयेत्। कोष्ठकालयेषु यथोद्देशं वास्तुदेवताः स्थापयेत्। ब्राह्मैन्द्रियाम्यसैनापत्यानि द्वाराणि बहिः परिमायाः धनुश्शतावकृष्टाश्चैत्यपुण्यस्थानवनसेतुबन्धाः कार्याः। (कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्)

पतञ्जलियोगसूत्र तथा महाभाष्य—पतञ्जलि ने किसी वस्तु पर चित्त स्थिर करने के ढंग को धारणा बतलाया है। यह ढंग दो प्रकार का है—वाह्य और आन्तरिक। नाभिचक्र और हृदय वाह्य वस्तु में सम्मिलित हैं। उस पर चित्त को स्थिर करना उसके अस्तित्व को वतलाता है। इस बात को सिद्ध करने का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि इस देश में योगाभ्यास पतञ्जलि के बहुत पहले से प्रचलित था। वाचस्पति मिश्र ने पतञ्जलि योगसूत्र पर व्यासदेव के भाष्य की टीका की है और बतलाया है कि हिरण्यगर्भ योगशास्त्र के प्रवर्त्तक थे। पतञ्जलि ने केवल परिवर्द्धित करके उसका प्रचार किया जो उनके प्रथम सूत्र "अथ अनुशासनम्" से प्रमाणित होता है। रामानुज तथा वेदान्त के अन्य आचार्यों ने इन प्राचीन ऋषि और उनके उत्तराधिकारियों का उल्लेख किया है और भगवान् शंकराचार्य ने कुछ योगसूत्रों का निर्देश किया है जो पतञ्जलि के योगसूत्रों में नहीं मिलते किन्तु उनके समय से भी प्राचीन जँचते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि मूर्त्तिपूजा योगशास्त्र के विकास के पूर्व नहीं तो साथ ही साथ तो अवश्य ही प्रचलित हुई होगी। पतञ्जलि का समय विद्वानों ने प्रमाणों द्वारा ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी निर्धारित किया है। योगशास्त्र का बुद्ध से पहले होना तो निर्विवाद सिद्ध है, क्योंकि उन्होंने भी पहले योगाभ्यास किया था।

साधारणतः वे ही वस्तुएँ जो अधिक प्रचलित रहती हैं किसी सिद्धान्त की व्याख्या के उदाहरण रूप में उद्धृत की जाती हैं। पाणिनि-सूत्रों के टीकाकार पतञ्जलि ने "जीविकार्थे चापण्ये" इस सूत्र के सम्बन्ध में उदाहरणार्थ वासुदेव, शिव, स्कन्द, विष्णु और आदित्य का उल्लेख किया है जिनका प्रयोग उन देवताओं की मूर्त्तियों की पूजा के अर्थ में किया गया है [१]। "गोत्रे ऽलुगचि"

---

[१] शिवः स्कन्दः विशाख इति। किं कारणम्। मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः

सूत्र के उदाहरण में "काश्यप प्रतिकृतयः काश्यपाः इति" वाक्य में काश्यप की मूर्त्तियों का वर्णन किया गया है। उसी से मृदङ्ग, शङ्ख और शिवभागवतों के एक सम्प्रदाय के अस्तित्व का पता चलता है जो अपने हाथ में माला लिए रहते थे। मुख्य देवताओं की पूजा का प्रचार उन दिनों भी वैसा ही था जैसा यहाँ अब है। महाभारत के "दीर्घनासिक्यर्च्चा।" "तुंगनासिक्यर्चेति।" वाक्यों में पाणिनि के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए एक मूर्त्ति का उदाहरण दिया है, जिसकी नाक बड़ी और ऊँची थी।

सिन्ध घाटी की सभ्यता में मूर्त्ति—अभी तक मूर्त्तियों का अस्तित्व वैदिक काल से माना जाता था किन्तु सन् १९२२ ई० में भारत के पुरातात्त्व विभाग की ओर से मोहेंजोदड़ो (सिन्ध), हड़प्पा तथा पञ्जाब में खोदाई आरम्भ हुई और लगभग ५ वर्ष तक यह काम चलता रहा। उससे परमप्राचीन सभ्यता की प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है' उसके विषय में पुरातात्त्व विभाग के डाइरेक्टर जेनरल सर जान मार्शल ने तीन भागों में एक भारी ग्रन्थ लिखा है, जिसमें फोटो का प्रचुर प्रयोग है। यहाँ की उपलब्ध सामग्रियों से पता चलता है कि उस समय के लोग सभ्यता में बढ़े-चढ़े थे। शिल्पकला में निपुण थे। सोना-चाँदी, जवाहिरात आदि के बने अलंकार उनके पास थे। ताँबे के सिक्के अधिकता से पाये गये हैं। धातुओं के छड़े, अगूँठी, सुइयाँ मिली हैं। आजकल के समान उस समय भी स्नान करना धर्म का एक अंग समझा जाता था और इसीलिए उस समय के मकानों में स्नानागारों का प्राचुर्य है। इतने सभ्य और कलाविद् होते हुए भी इन लोगों ने देवालयों का निर्माण नहीं किया क्योंकि मोहेंनजोदड़ो और हड़प्पा इन दोनों ही शहरों में मंदिरों का

प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।

सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है किन्तु यत्र-तत्र मूर्त्तियाँ मिलती हैं। उन्होंने पत्थर और जस्ते पर मनुष्य-मूर्त्तियाँ बनाईं। अभी तक एक पत्थर की मूर्त्ति का पता लगा है जो किसी देवता की मालूम पड़ती है। इसकी ऊँचाई सात इञ्च है परन्तु पहले इससे अधिक रही होगी क्योंकि नीचे के हिस्सों पैर आदि का पता नहीं है। छोटी-छोटी मिट्टी की बहुत सी मूर्त्तियाँ मिली है उनमें कुछ नग्न-मूर्त्तियाँ नर-मूर्त्तियाँ मालूम होती हैं। केवल कटि में वस्त्र धारण की हुई तथा रत्नों से सुसज्जित कुछ मूर्त्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं जो स्त्री-मूर्त्तियाँ भासित होती हैं, उनके मस्तक पर एक विचित्र पङ्खे के आकार का शिरस्त्राण दृष्टिगोचर होता है। ये मूर्त्तियाँ अधिकतर टूटी फूटी दशा में हैं तथापि देखने से ये देवी की मूर्त्तियाँ मालूम पड़ती है। जिसकी पूजा प्राचीन काल में भी सर्वत्र व्यापक रूप से होती थी और आधुनिक युग में भी सर्वत्र ही विशेषतः निम्नश्रेणी में इस सम्प्रदाय के लोग हैं। इन मूर्त्तियों की प्रचुरता से यह कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी के प्रत्येक घर में इसकी पूजा होती थी। अब भी गृह, ग्राम की रक्षार्थ देवी की पूजा होती है। एक यन्त्र में एक नग्नमूर्त्ति पाई गई है जिसके तीन सिर और दो सींग हैं—उनके निकट चारों ओर हिरन, हाथी, चीता, गैंडा और भैंसा है। सर जान मार्शल ने इसे शिव की मूर्त्ति बतलाई है। इससे स्पष्ट है कि शिव को पशुपति मानने का विचार बहुत प्राचीन है। पीपल का वृक्ष भी पवित्र माना जाता था। इस वृक्ष के नीचे शृंगधारिणी देवी भक्त से पूजा ग्रहण करती हुई प्रदर्शित की गई है। भक्त के पीछे एक बकरा भी है, शायद वह बलि के निमित्त लाया गया हो। सींग देवत्व का चिह्न समझा जाता था। लिंग और योनि की पूजा होती थी। सिन्ध और बिलोचिस्तान में वर्तमान अरघों के समान लिंग-युक्त अरघे मिले हैं। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि मूर्त्तिपूजा का विचार भारतवर्ष में अति प्राचीन है। कुछ विद्वान् सिन्ध घाटी की

सभ्यता को वेदों से पूर्व का मानते हैं तथा कुछ बाद का। किन्तु मान्य मत सिन्धु सभ्यता को वेद-पूर्व निश्चित करता है। ह्वीलर ने इसकी तिथि २५०० ई० पू० से० १५०० ई० पू० तक निर्धारित की है। यद्यपि वे उत्खनन से प्राप्त इन मूर्त्तियों को किसी कलागत विकास-परम्परा का परिणाम मानते हैं तथापि बहुमत उनकी पूजा होना ही मानता है अतः मर्त्तिपूजा का आदिस्रोत सिन्धु के खण्डहरों में दबा हुआ मिलता है। अधिकांश विद्वान् ह्वीलर का मत नहीं मानते वे सिन्धुघाटीसभ्यता को और भी पीछे ले जाते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर का समय निर्णय—इसमें कुछ अंश तो अत्यन्त प्राचीन हैं और कुछ बहुत पीछे के संगृहीत जान पड़ते हैं। अतः पूरे पुराण के लिए कोई समय निर्धारित करना अन्याय होगा तथापि चित्रकला तथा मूर्त्तिकला सम्बन्धी अंशों के आधार पर विद्वानों ने इसका समय ख्रीष्टाब्द ५ से ७ तक निर्धारित किया है। यह रामायण तथा महाभारत के पीछे का है क्योंकि इसमें आदिकवि बाल्मीकि, महाभारत-प्रणेता व्यास तथा उनके चार शिष्यों की मूर्त्ति बनाने का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त महाभारत के कई वीर[१] युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्णजी देवकी, यशोदा, बलराम आदि की मूर्त्तियों के बनाने का निर्देश मिलता है। महाभारत का वर्तमान रूप ख्रीष्टाब्द २००-४०० तक में पूर्ण हुआ माना जाता है अतः विष्णुधोमोंत्तर ख्रीष्टाब्द ५ से पहले का नहीं हो सकता। यह काल विष्णु पुराण से भी स्पष्ट है जिसका यह परिशिष्ट है। विष्णुपुराण में वर्णित वंशावली भविष्य, मत्स्य और वायुपुराण के आधार पर है। वायु पुराण में इस अंश का समावेश ख्रीष्टाब्द ३३५ के बाद ही हुआ होगा अतः विष्णुपुराण चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद ही का हो सकता है।

विष्णुधर्मोत्तर में तृतीय खण्ड के २७ वें अध्याय में रङ्गों का

[१] विष्णुधर्मोत्तर तृतीय खण्ड अध्याय ८५, ६१-७६

वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र से शब्दशः लिया गया है। विष्णुधर्मोत्तर में रसों की संख्या नौ है जब कि भरत मुनि ने केवल आठ रसों का ही वर्णन अपने नाट्य-शास्त्र में किया है। अतः इसका संकलन भरत के पश्चात् ही हुआ होगा। इसका उत्तर काल भगवान् शंकराचार्य से पहले का भासित होता है, क्योंकि सब देवता, वीर, दार्शनिकगण और ऋषियों का उल्लेख विष्णु के निकट, किया गया है तथापि शंकराचार्य का कोई निर्देश नहीं है जो वर्तमान युग तक मूर्त्तिरूप में प्रतिष्ठित हैं। यदि शङ्कराचार्य उस समय होते तो उनको भी वैष्णवों में सम्मिलित कर लिया गया होता। चित्रकला सम्बन्धी अध्यायों की रचना अजन्ता की चित्रकारी के साथ साथ सातवीं शताब्दी में हुई होगी।

यह पूर्व में ही सिद्ध किया जा चुका है कि मूर्त्तिपूजा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। पौराणिक युग में तो इसकी बहुत वृद्धि हुई। वैदिक देवताओं के अतिरिक्त भी अन्य बहुत से देवगणों की पूजा होने लगी। इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गुप्तकाल में पुराण और तन्त्रों की अभिवृद्धि हुई और साहित्य तथा कला की उन्नति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। तत्कालीन कलाकारों की कलाओं से स्पष्ट है कि पुराणों और तन्त्रों में मूर्त्तिपूजा का पूर्ण विकास हुआ है। प्राचीन मूर्त्तिकला के उदाहरण जिनका अब तक पता चला है मौर्यकाल[१] से दिखलाये जा सकते हैं। दक्षिण भारत में गौडीमल्लम में लिङ्ग प्राप्त हुआ है जो प्राचीनतम माना जाता है। आधी आकृति पर अङ्कित

[१] कुबेर और मणिभद्र की मूर्त्तियाँ मौर्यकाल की सिद्ध की गई हैं। साँची के तोरणों पर प्रदर्शित श्री या गजलक्ष्मी की मूर्त्ति कुशाणों के पहले की मालूम होती है। कुशाणों के समय की सूर्यमूर्त्ति मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित है। इससे भी पहले सूर्य की मूर्त्ति बोधगया के अशोक के कटघरे पर देखी जा सकती है।

शिवमूर्त्ति के लक्षण, आभूषण, वस्त्रों के क्रम, कन्धे के फरसे तथा अन्यान्य लक्षणों से भारहुत मूर्त्तिकला के समय का अर्थात् ईसा से दो शताब्दी पूर्व का मालूम पड़ता है। इससे तत्कालीन लिङ्गपूजा की वास्तविक विधि का पता लगता है तथा यह प्रमाणित होता है कि कम से कम ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में लिङ्गपूजा का प्रचार था। हाल में ही विसनगर में गरुड़स्तम्भ पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें लिखा है कि हिलियोगेरस ने जो एक भागवत था राजा[1] अन्तलकीदास (Antallkidas) के राजत्वकाल में तक्षशिला से आकर वासुदेव के प्रतिष्ठार्थ गरुड़ध्वज की स्थापना की। इस राजा का समय विद्वानों ने ईसा से पूर्व १७५ से १३५ ई० तक निर्धारित किया है। शायद यह पहला शिलालेख है जिसमें विष्णु को वासुदेव कहा गया है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि भारत में मन्दिरों में वासुदेव की पूजा ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती।

मूर्त्तियों के भेद—मूर्त्तियाँ तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं चल, अचल और चलाचल। चलमूर्तियाँ वे हैं जो धातुनिर्मित होती हैं तथा सुगमतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जा सकती हैं। इनमें कौतुकबेरा[2] अर्चना के लिए उपयुक्त है, उत्सवबेरा को उत्सव के अवसरों पर जुलूस में निकालते हैं और बलिबेरा तथा. स्नपन बेरा को क्रमशः बलिप्रदान तथा स्नान के निमित्त नैत्यिक उपासना में काम में लाते हैं। अचल

---

[1] Elements of Hindu Iconography
volume I, Part II
by T. A. Gopinath Raos

[2] ध्रुवं तु ग्रामरक्षार्थमर्चनार्थं तु कौतुकम्।
स्नानार्थं स्नपनं प्रोक्तं बल्यर्थं बलिबेरकम्।
उत्सवं चोत्सवार्थं च पञ्चबेराः प्रकल्पिताः॥
(भृगुप्रोक्त वैखानसागमे)

मूर्त्तियाँ मूलविग्रह या ध्रुवबेरा के नाम से विख्यात हैं और प्राय: पत्थर की बनती हैं तथा स्थायी रूप से मन्दिर में उनकी स्थापना की जाती है। वे सदैव बड़ी और भारी मूर्त्तियाँ होती हैं। स्थानक, आसन, और शयन भेद से ध्रुवबेरा तीन प्रकार की होती हैं। वैष्णवमूर्त्तियों के सम्बन्ध में इनमें से प्रत्येक के चार भेद किये जा सकते हैं जैसे योग, भोग, वीर और आभिचारिक। उपासकों की भिन्न भिन्न रुचियों के अनुकूल वैष्णवमूर्त्ति के ये भेद हैं। मूर्त्तियों के तीन और भेद होते हैं; चित्र, चित्रार्ध और चित्राभास। चित्र उन मूर्त्तियों को कहते हैं जिसमें सब अवयव अविकल रूप से चित्रित तथा व्यक्त किये गये हों। आधे चित्रित मूर्त्ति को चित्रार्ध कहते हैं और चित्राभास से उन चित्रों का निर्देश होता है, जो दीवारों, वस्त्रों तथा ऐसे ही अन्य वस्तुओं पर चित्रित किये जाते हैं। भली भाँति अङ्कित मूर्त्ति को व्यक्त तथा अर्धप्रदर्शित (अर्थात् वक्षस्थल तक) को व्यक्ताव्यक्त कहते हैं। मुखलिङ्ग की मूर्त्तियाँ तथा एलिफन्टा की गुफा में त्रिमूर्त्ति इसके उदाहरण हैं और लिङ्ग शालग्राम, बाणलिङ्ग इत्यादि की गणना अव्यक्त में की जाती है। विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की मूर्त्ति शयनावस्था में नहीं प्रदर्शित करनी चाहिए। खड़े या बैठे हुए ही प्रदर्शित करना चाहिए।

प्रकृति के अनुसार मूर्त्तियों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं रौद्र तथा शान्त। रौद्र मूर्त्तियों के नेत्र दीर्घ, गोल; सिर के चारों ओर अग्नि की लपटें, तीक्ष्ण तथा लम्बे नख और युद्धोपयोगी शस्त्रों से सुसज्जित अनेक हाथ प्रदर्शित किये जाते हैं। शान्त मूर्त्ति देखने में सौम्य तथा शान्तिमय प्रतीत होती है। सुखमय अभीष्टों की प्राप्ति के लिए इसकी पूजा निहित है।

देवताओं-देवियों, शालग्राम, बाणलिङ्ग, यन्त्र, पशु-पक्षियों, पवित्र नदियों, सरोवरों, वृक्षों, ऋषियों के समाधि-स्थानों की हिन्दू लोग पूजा करते हैं। सम्प्रदायों के अनुसार देवी-देवताओं की

मूर्त्तियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। वैष्णव और शैव। क्योंकि शेष इन्हीं दो के अन्तर्गत हैं। शास्त्रानुसार प्रत्येक देवता की पूजा किसी जाति विशेष के लिए विहित है यथा ब्राह्मणों के देवता अग्नि, सूर्य, ब्रह्मा और शिव हैं। राजाओं को विष्णु और इन्द्र की पूजा करनी चाहिए। ब्रह्मा[१] ब्रह्मचारियों के देवता हैं और सब गृहस्थों के देवता हैं। जो देवता जिस मनुष्य को इष्ट हो वही उसका देवता है किन्तु कार्य विशेष से किसी भी देवता की पूजा करने से कल्याण हो सकता है[२]। भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार के परिवर्त्तन कला में दृष्टिगोचर होते हैं। पहले की मूर्त्तियों से स्पष्ट है कि कलाकार प्रकृति की पूर्ण अनुकृति करने की यथेष्ट चेष्टा करता था जैसे पहले की मूर्त्तियों में नाक कुछ छोटी होती थी और ओंठ आपेक्षाकृत कुछ मोटे। आँखों में कृत्रिमता कम है, वे अधिक लम्बी नहीं हैं। मुख का ढाँचा गोल है परन्तु परवर्त्ती कला में मुख अण्डाकार प्रदर्शित किया गया है तथा नाक लम्बी शुण्डाकार सी प्रतीत होती है केवल इसी से पता चल सकता है कि मूर्त्ति आधुनिक युग की है[३]। पूर्वकला में वस्त्रसंविधान अत्यन्त प्रभावशाली तथा स्वाभाविक होता था, वस्त्रों कों सुचारु रूप से ऐसा चुन कर पहनाते थे कि मूर्त्ति के ऊपर बहुत भला मालूम होता था। परन्तु परवर्त्ती मूर्त्तियों में स्वाभाविकता का ह्रास है तथा कृत्रिमता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

---

[१] गृहस्थानाञ्च सर्वे स्युर्ब्रह्मा वै ब्रह्मचारिणाम्।
या यस्याभिमता पुंसः सा हि तस्यैव देवता।
किन्तु कार्यविशेषेण पूजिता चेष्टदा नृणाम्॥

(कूर्मपुराण)

[२] Elements of Hindu Iconography
Vol. L Part II
By T.A Gopinath Rao. PP: 33-35

प्रतिमा का परिमाण—देवता[1], दानव तथा किन्नर ये सब नव-ताल प्रमाण के होते हैं (अंगुष्ठ से मध्यमा अंगुली तक के विस्तार को ताल कहते हैं)। अंगूठे की पोरी से एक बित्ता[2] तक की मूर्त्ति घर में रखनी चाहिए। देवमन्दिरों या राजप्रासादों में १६ अंगुली की मूर्त्ति बनवाये, इससे अधिक नहीं। धन के अनुसार मध्यमा, उत्तमा, और कनिष्ठा मूर्त्ति मन्दिर के द्वार की ऊँचाई के आठ भाग करके एक भाग छोड़ दे। शेष भागों में तीन भाग करके दो भागों में देवमूर्त्ति, तीसरे भाग में पीठिका बनावे। पीठिका अधिक नीची या अधिक ऊँची नहीं करनी चाहिए। अपनी अंगुलि के मान से मुख का मान बारह अंगुल हो तथा मुख के मान के अनुसार सब अंङ्गों का निर्माण करना चाहिए। मूर्त्ति के मुख के प्रमाण भर के नवभाग का चार अंगुल ग्रीवा करे, पुनः भाग में हृदय, उसके नीचे नाभि और नाभि के नीचे लिंग करे। इस प्रकार मत्स्य पुराण के अध्याय २५८ में सब अंङ्गों का मान दिया गया है जिसके अनुसार मूर्त्ति का निर्माण करना श्रेयकर है।

---

[1] नवतालप्रमाणास्तु देवदानवकिन्नराः। म० अ० २५८, १६

[2] अङ्गुष्ठपर्वादारभ्य वितस्तिर्यावदेव तु।
गृहेषु प्रतिमा कार्या नाधिका शस्यते बुधैः। म० अ० २५८, २२
आषोडशात्तु प्रासादे कर्तव्या नाधिका ततः।
मध्योत्तमकनिष्ठा तु कार्या वित्तानुसारतः॥ २३॥
द्वारोच्छ्रायस्य यन्मानमष्टधा तत्तु कारयेत्।
भागमेकं ततस्त्यक्त्वा परिशिष्टं तु यद् भवेत्॥ २४॥
भागद्वयेन प्रतिमा त्रिभागीकृत्य तत्पुनः।
पीठिका भागतः कार्या नातिनीचा न चोच्छ्रिता॥ २५॥

मत्स्य पुराण के अध्यात २५८ में सर्वावयव का मान वर्णित है। इसी प्रकार का वर्णन 'देवतामूर्त्ति प्रकरण' में भी मिलता है।

अशुभ प्रतिमा लक्षण—सूत्रधार मंडनकृत 'देवतामूर्त्ति प्रकरण' नामक ग्रंथ में अशुभ प्रतिमा के लक्षण दिये हैं तथा ऐसी प्रतिमा की पूजा का निषेध किया गया है क्योंकि शुभ लक्षण सम्पन्न ही प्रतिमा सर्वाभीष्टदायिनी होती है अन्यथा अनिष्ट-कारिणी होती है। मूर्त्ति अधिक अङ्गों या हीन अंगोंवाली नहीं बनानी चाहिए। हीनाङ्ग से स्वामी का नाश, अधिक से शिल्पि का, कृश से धन का नाश होता है, टेढ़ी नाक से दुःख, चपटी नाक से दुःख और शोक, शुष्क मुख से राजा का नाश होता है। इसी का समर्थन मत्स्यपुराण[1] में भी किया गया है। उक्त ग्रन्थ तथा मत्स्यपुराण के श्लोकों में भी प्रायः बहुत कुछ साम्य है। समरा-

---

आरभ्यैकाङ्गुलादूर्ध्वपर्यन्ते द्वादशाङ्गुलम्।
गृहेषु प्रतिमा पूज्या नाधिका शस्यते ततः॥ अ० १, १७
द्वारं विभज्य नवधा भागमेकं परित्यजेत्।
अष्टौ भागांस्त्रिधा कृत्वा द्विभागे प्रतिमा भवेत्॥

कुछ ऐसा वर्णन 'समराङ्गणसूत्रधार' में भी उपलब्ध है—

मध्यायां नवधा द्वारं कृत्वैकं भागमुत्सृजेत्।
शेषान् भागांस्त्रिधा कृत्वा पीठं भागेन कल्पयेत्॥ अ ७०, १४८,१४६

[1] नाधिकाङ्गा न हीनाङ्गा कर्त्तव्या देवताः क्वचित्।
स्वामिनं घातयेन्न्यूना करालवदना तथा।
अधिका शिल्पिनं हन्यात्कृशा चैवार्थनाशिनी॥
कृशोदरी तु दुर्भिक्षं निर्मांसा धननाशिनी।
वक्रनासा तु दुःखाय संक्षिप्ताङ्गी भयंकरी॥
चिपिटा दुःखशोकाय अनेत्रा नेत्रनाशिनी।
दुःखदा हीनवक्त्रा तु पाणिपादकृशा तथा॥
हीनाङ्गा हीनजंघा च भ्रमोन्मादकरी नृणाम्।

क्ष्या सूत्रधार[1] में लक्षणहीन प्रतिमा को अनिष्टकारिणी बतलाया गया है। वृहत्संहिता[2] में भी इसकी अनिष्टकारिता स्वीकार की गई है। इसके विपरीत पूर्ण अवयवों वाली प्रतिमा आयु तथा लक्ष्मी प्रदान करती है। अतः मूर्त्ति को सर्वलक्षणसम्पन्न[3] तथा वास्तुशास्त्र के नियमों के अनुसार निर्मित करना चाहिए जिससे कल्याण हो।

शुष्कवक्त्रा तु राजानं कटिहीना च या भवेत् ॥
पाणिपादविहीनो यो जायते मारको महान्।
जङ्घाजानुविहीना च शत्रुकल्याणकारिणी ॥
पुत्रमित्रविनाशाय हीनवक्षःस्थला तु या।

मत्स्यपुराण अ० २५६; १५-१६

'देवतामूर्तिप्रकरणम् प्रथम अध्याय २७-३१ श्लोकों में उपरि-लिखित मत्स्यपुराण के समान ही वर्णन है।

[1]निहन्ति कारकं रौद्रा दीनरूपा च शिल्पिनम्।
कृशा व्याधिं विनाशं च कुर्यात् कारयितुः सदा।
कृशोदरी तु दुर्भिक्षं विरूपा चानपत्यताम् ॥

अ. ७७, ७-८

[2]नृपभयमत्यङ्गतायां हीनाङ्गायामकल्पता कर्त्तुः।
शातोदर्यां क्षुद् भयमर्थविनाशः कृशाङ्गायाम्।
मरणन्तु सक्षतायां शस्त्रनिपातेन निर्दिशेत् कर्त्तुः ॥

अ. ५७, ५

[3]सम्पूर्णावयवा या स्यादायुर्लक्ष्मीप्रदा सदा।
एवं लक्षणमासाद्य कर्त्तव्या देवता बुधैः ॥

देवतामूर्त्ति प्रकरणम् अ० १, ३५

ऐसा ही मत्स्यपुराण में भी वर्णित है :—
सम्पूर्णावयवा या तु आयुर्लक्ष्मीप्रदा सदा।
एवं लक्षणमासाद्य कर्त्तव्यः परमेश्वरः ॥

प्रतिमाद्रव्य—मूर्त्तिनिर्माण के लिए आगमों में ये द्रव्य विहित हैं—काष्ठ[१], पत्थर, अमूल्य रत्न, धातु और मिट्टी तथा इनमें से किन्हीं दो या दो से अधिक वस्तुओं का सम्मिश्रण। मूर्त्ति बनाने के लिए शास्त्रविहित द्रव्यों में स्फटिक, पद्मराग, बज्र, वैदूर्य, विदुम, पुष्य तथा रत्न का उल्लेख किया गया है। इनमें स्फटिक दो प्रकार का होता है—सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त। ईंटे और हस्तिदन्त का भी उल्लेख इस सम्बन्ध में किया गया है। प्राय: सभी ध्रुवबेर (मन्दिरों में स्थायी रूप से स्थापित मूर्त्तियाँ) पत्थर की बनी हुई होती हैं। इस प्रकार की काष्ठनिर्मित मूर्त्तियों के भी कुछ थोड़े से उदाहरण हैं जैसे पुरी में जगन्नाथजी की मूर्त्ति लकड़ी की ही बनी है। ध्रुवबेरों के निमित्त धातु का प्रयोग बहुत कम देखा गया है। उत्सव, स्नपन और बलिमूर्त्तियों के हेतु इसका उपयोग होता है। कहीं-कहीं रत्नों की प्रतिमा भी सुनी गई है। उदाहरणार्थ—बरमा के राजप्रासाद में बुद्ध की एक रत्न-निर्मित मूर्त्ति का होना सुना गया है। धातु को ढालकर मूर्त्तियाँ प्राचीनकाल में (कम से कम आठवीं शताब्दी में) बनाई जाती थीं। महिषमर्दिनी, शक्ति, गणेश और नन्दि की काँसे की

---

[१]तयोरसंभवेऽर्चा वै सा चेह नवधा स्मृता।
रत्नजा हेमजा चैव राजती ताम्रजा तथा॥
रैतिक्यर्चा तथा लौही शैलजा द्रुमजा तथा।
अधमाधमा च विज्ञेया मृण्मयी प्रतिमा च या॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

मूर्त्तियाँ आठवीं शताब्दी की मानी जाती हैं।[१] मत्स्यपुराण[२] में प्रतिमा इसी प्रकार दिये गये हैं।

प्राय: देखने में आता है कि जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा भी हो जाती है। राजा जिस देवता का उपासक होता है, उसकी पूजा का अधिक प्रचार हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो पता चलता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की उन्नति अधिकतर राजाश्रयता के कारण समय-समय पर हुआ करती है। बहुत सी मूर्त्तियाँ राजा या उनके अमात्यगण स्थापित कराते थे तथा उनके लिए देवालयों का विधिपूर्वक निर्माण होता था। इन मूर्त्तियों से राजाओं की मानसिक प्रवृत्तियों का स्पष्ट पता लग जाता है। बहुधा ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहाँ राजाज्ञा से ही विष्णुमूर्त्तियाँ स्थापित की गई हैं। गुप्त तथा पालवंशीय राजा सभी वैष्णव थे। गुप्तकाल में तो वैष्णवों का बड़ा सम्मान था। तत्कालीन शिलालेखों के अध्ययन से उनकी विष्णु-निष्ठा की स्पष्ट झलक मिलती है। उस समय तो कला उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी। मथुरा के शासक भी विष्णु के उपासक थे। उड़ीसा के राजा भी विष्णु की उपासना करते थे। यही कारण है कि मथुरा, मगध और उड़ीसा में विष्णु की मूर्त्तियाँ बहुत हैं। मथुरा तो

---

[१] Annual Reports of the Director General of Archaeology for India for 1902—3.
Plate facing page 34.

[२] सौवर्णी राजती वाऽपि ताम्री रत्नमयी तथा।
शैली दारुमयी चापि लोहसीसमयी तथा॥
रीतिकाधातुयुक्ता वा ताम्रकांस्यमयी तथा।
शुभदारुमयी वाऽपि देवतार्चा प्रशस्यते॥

अध्याय २५८, २०-२१

अब तक श्रीकृष्ण को उपासना का केन्द्र माना जाता है। यहाँ तक कि एक भक्त ने इसके सामने मोक्ष तक की अवहेलना कर डाली है। वह वृन्दावन में शृगाल योनि में रहना मुक्ति से अधिक श्रेयस्कर समझता है। यथा—

अपि वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्।
न च वैशेषिकी मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन ॥

काशी या दक्षिण भारत में शिवसम्प्रदाय की अधिकता का भी यही कारण समझा जा सकता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि विष्णुधर्मोत्तर में मूर्त्ति-निर्माण का विशद वर्णन है। इस प्रकार का वर्णन अन्यत्र पुराणों में नहीं मिलेगा यों तो मार्कण्डेय, कूर्म, मत्स्यादि में भी यत्र-तत्र मूर्त्तियों का वर्णन प्रसंगवश आ जाता है, परन्तु उनमें इस प्रकार का विशद वर्णन नहीं। इसका विषय तो शिल्प से सम्बद्ध होने के कारण श्रीतत्वनिधि शिल्परत्न, मानसार आदि शिल्पशास्त्रों में वर्णित है। किस देवता की कैसी मूर्त्ति होनी चाहिए तथा उनका, वस्त्रबाहन, आयुध आदि के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन अपेक्षित है। यहाँ तो केवल प्रसंगवश कुछ देवताओं के रूप का दिग्दर्शन करा दिया जाता है। त्रिमूर्त्ति, विष्णु, महादेव, वरुण, भूमि, व्योम, दिकपाल, मरुद्गण, विष्णु, पार्षद तथा ग्रहों के रूपों का वर्णन मिलता है। कुछ देवियों के रूप का भी वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त और भी देवताओं का वर्णन है। प्रायः सभी देवता के साथ उनकी पत्नी की मूर्त्ति भी विहित है। सर्वप्रथम त्रिमूर्त्ति का वर्णन किया गया है। त्रिमूर्त्ति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवताओं का ग्रहण होता है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा रूप से संसार का स्रष्टा, विष्णुरूप से पालक तथा शिव रूप से संहारक हैं। उसी एक परमात्मा में ये तीनों कृत्य निहित हैं। कार्यभेद से उनका रूपभेद भी होता है। सब ओर

प्रवृत्त होनेवाली उनकी ब्राह्मी मूर्त्ति राजसी है, वैष्णवी मूर्ति सात्विकी तथा रौद्री मूर्ति संहारक होने से तामसी कही जाती है। इसके अतिरिक्त त्रिमूर्त्ति से मानवजीवन की तीन अवस्थाओं का वाल्य, युवा तथा वृद्धा का—ज्ञान हो सकता है। कुछ विद्वानों ने इस त्रिमूर्त्ति से आर्यों के तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य तथा संन्यास की कल्पना की है। इस कल्पना का आधार शायद यह हो सकता है कि ब्रह्मा ब्रह्मचारी के समान रहते हैं। उनके हाथ में कमण्डलु तथा वेद हैं, काषाय वस्त्र धारण किये हुए हैं, जो ब्रह्मचारी के लक्षण हैं। एक आदर्श गृहस्थ के समान विष्णुमूर्ति का प्रदर्शन होता है। जिसका ध्येय है :—

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थो धर्म उच्यते॥

उनके वस्त्र, अलङ्कार तथा भृत्यों के प्रदर्शन से उनके सांसारिक जीवन का पता चलता है। उसी प्रकार शिव की मूर्त्ति से संन्यासी के जीवन की झलक मिलती है। यति के समान वह त्रिशूली, जटाधारी तथा व्याघ्रचर्मावृत प्रदर्शित किये जाते हैं। योगियों के समान वे नग्न तथा ध्यानावस्थित हैं। अध्यात्मविद्या के अनुसार त्रिमूर्त्ति रज, सत्व और तम का द्योतक है। दिन के तीन भाग प्रातः, मध्याह्न तथा संध्या क्रमशः ब्रह्मा विष्णु और शिव से लक्षित किये जाते हैं। त्रिमूर्त्ति का वर्णन यहाँ पर इस प्रकार से है :—ब्रह्मा को सौम्य, चतुर्मुख, पद्मासनासीन, कृष्णाजिनधारी, चतुर्भुज जटाधारी, सप्तहंसरथारूढ़, दाहिने हाथ में रुद्राक्ष, बायें में कमण्डलु, सर्वाभरणभूषित, सर्वलक्षण—सम्पन्न, शान्तरूप, ध्यानावस्थित, निर्मित करना चाहिए। देवाधिदेव विष्णु को गरुड़ स्थित, कौस्तुभ मणि तथा अन्य आभूषणों से युक्त, सजल मेघवर्ण, पीताम्बरधारी अष्टभुज तथा चतुर्मुख होना चाहिए। पूर्व की ओर सौम्य मुख, दक्षिण में नरसिंह, पश्चिम में कपिलमूर्त्ति तथा उत्तर में वराह मूर्त्ति हो। उनके

दाहिने हाथों में बाण अक्ष, मुसल, चर्म, चीर, धनुष, इन्द्रचाप, बनाना चाहिए। रुद्र को वृषारुढ़, त्रिनेत्र तथा पञ्चमुख करना चाहिए। उत्तर मुख को छोड़कर शेष सब मुख त्रिनेत्र हों। जटासमूह में, चन्द्रकला होनी चाहिए। उनके दाहिने हाथों में अक्षमाला, त्रिशूल शर, दंड, उत्पल तथा बायें हाथों में मातुलिङ्ग, आदर्श, कमण्डल होना चाहिए।

भगवान् विष्णु के प्राय: दश अवतार माने जाते हैं—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि। विष्णुधर्मोत्तर में मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, त्रिविक्रम, परशुराम, कृष्ण, बलभद्र, बुद्ध और कल्कि का वर्णन किया गया है। अग्निपुराण में नृसिंह और वाराह का विशेष वर्णन है। मत्स्यपुराण में महावाराह, नृसिंह, त्रिविक्रम, मत्स्य और कूर्म अवतारों का विशद वर्णन किया गया है। कुबेर का वर्णन यहाँ धनद और ऐडूक रूप से किया गया है। कुबेर को लम्बोदर, चतुर्बाहु, पिङ्गलनेत्र, नरवाहन, सर्वाभरणभूषित तथा श्मश्रु धारण करनेवाला बतलाया गया है। वामोत्संग में ऋद्धि-देवी दो भुजाओं वाली बतलाई गई है और ऐडूक रूप में भद्रपीठ स्थापित करके लिंग स्थापित करने का आदेश किया गया है। मत्स्यपुराण में कुबेर का वर्णन इस प्रकार है :—

कुबेरं च प्रवक्ष्यामि कुण्डलाभ्यामलंकृतम्।
हारकेयूररचितं सिताम्बरधरं सदा॥
गदाधरं च कर्त्तव्यं वरदं मुकुटान्वितम्।
नरयुक्तविमानस्थं मेषस्थं वापि कारयेत्॥

पर वामोत्संग में कुबेर को दिक्पालों के रूप में प्रदर्शित किया गया है। लक्ष्मी, सरस्वती, चामुण्डा शिवदूती[1], आदि का भी

[1] विष्णुधर्मोत्तर तृतीय खण्ड अ. ७३/२५-४०

वर्णन किया गया है। देवियों को अपने पतियों के अनुसार भूषण, वाहन तथा आयुधयुक्त प्रदर्शित किया गया है। धन्वन्तरि को अच्छे रूप और प्रियदर्शन तथा हाथों में अमृत-कलश-युक्त करने का आदेश है। वेदों को मूर्त्तिमान कल्पित किया गया है। इनको देवरूप में माना गया है। यथा—ऋग्वेद ब्रह्मा, यजुर्वेद इन्द्र, सामवेद विष्णु और अथर्ववेद शम्भु कहे गये हैं। शिक्षा को प्रजापति, कल्प को ब्रह्मा, व्याकरण को सरस्वती, निरुक्त को वरुण, छन्द को पृथ्वी और अग्नि, ज्योतिष को सूर्य, मीमांसा को चन्द्रमा, न्याय को पवन, धर्मशास्त्र को धर्म, पुराणों को मनु, इतिहास को प्रजाध्यक्ष, धनुर्वेद को शतक्रतु (इन्द्र), आयुर्वेद को धन्वन्तरि, नृत्यशास्त्र को शिव, पञ्चरात्रि को सङ्कर्षण, पतञ्जलि महाभाष्य को अनन्त, सांख्य को कपिलमुनि, अर्थशास्त्र को धनाध्यक्ष, कलाशास्त्र को कामदेव माना गया है। शास्त्र का प्रवर्त्तक उस शास्त्र का देहधारी देवता कहा गया है। नवग्रहों की मूर्त्तियों का निर्माण यहाँ बतलाया गया है। उनके वाहनादि का उल्लेख भी मिलता है।

मूर्त्ति सम्बन्धी अध्यायों के अन्त में देवपरिवार तथा अन्य पार्षदों का भी वर्णन किया गया है। विष्णु के आयुधों की व्याख्या की गई है। वज्र ने विस्मित होकर मार्कण्डेयजी से पूछा कि भगवान् को इन आयुधों की क्या आवश्यकता है तथा उनको किसका भय है? इस पर मार्कण्डेय जी ने शङ्ख को आकाश, चक्र को पवन, गदा को तेज, जल को पद्म बतलाया है। यदि भगवान् इनका परित्याग कर दें तो ये सब नष्ट हो जायँ। अतः वे इनको धारण करते हैं।[१] अष्टवसुओं का भी यहाँ पर वर्णन है। इनके अतिरिक्त आदिकवि वाल्मीकि तथा भगवान् वेदव्यास की मूर्तियों का निर्माण बतलाया है। उनके पार्श्व में उनके चार शिष्यों सुमन्त,

---

[१] विष्णुधर्मोत्तर तृतीय खण्ड अ. ८५/१६-१८

जैमिनि, पैल और वैशम्पायन का भी उल्लेख है। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी की मूर्त्तियों के निर्माण के विषय में बतलाया गया है। भगवान् कृष्ण की मूर्त्ति के निकट यशोदा, देवकी, और मुसल तथा कुंडल धारण किये हुए बलराम प्रदर्शित किये गये हैं। रुक्मिणी को श्याम तथा सत्यभामा को गरुड़ारूढ़ बतलाया है। साम्ब को गदाहस्त तथा अनिरुद्ध को खड्गचर्मधारी दिखलाने का आदेश है। अन्त में मार्कण्डेय जी कहते हैं "हे राजन् देव-देव विष्णु के अवतारों का विस्तारपूर्वक कथन नहीं किया जा सकता। उनके कर्मयोगों की कल्पना तो शास्त्राध्ययन से अथवा बुद्धि से करनी चाहिए।"

इस पुस्तक में पुराणशैली का अनुसरण किया गया है। महाराज वज्र श्रोता हैं तथा मार्कण्डेय ऋषि वक्ता हैं। महाराज वज्र पूछते हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए जिससे इस लोक तथा परलोक में बड़ा सुख प्राप्त हो। मार्कण्डेयजी उत्तर देते हैं कि देवपूजन से ही ऐहिक एवं आमुष्मिक कल्याण हो सकता है। उत्तम लोकों को प्राप्त करने की इच्छावाले पुरुषों को देवालयों का निर्माण करना चाहिए। सतयुग, त्रेता और द्वापर में लोग देवता का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे, पर कलियुग में उनका प्रत्यक्ष दर्शन दुर्लभ हो गया है अतः पूजा-अर्चा के अन्तर्गत है अब मूर्त्ति-पूजा के द्वारा ही कल्याण संभव है। शास्त्रविहित सर्वलक्षण-सम्पन्न प्रतिमा का निर्माण करके पूजा करनी चाहिए क्योंकि लक्षणहीन मूर्त्ति की पूजा अनिष्टप्रद है। इस पर वज्र ने प्रत्येक देवता की मूर्त्ति के निर्माण का विधान जानना चाहा तब मार्कण्डेय जी ने उनकी जिज्ञासा निवृत्त्यर्थ तथा संसार के कल्याण के लिए प्रत्येक देवता की मूर्त्ति के निर्माण का विधान साङ्गोपाङ्ग यथाविधि बतलाया जो विष्णुधर्मोत्तर के ४४-८५ अध्याय तक अर्थात् ४२ अध्यायों में विशद रूप से वर्णित है। जिन देवताओं की मूर्त्तियों

का वर्णन दो या तीन अध्यायों में पृथक्-पृथक् आया है उनका वर्णन मैंने एक ही स्थान पर कर दिया है, पर जहाँ पर देवों का समवेत वर्णन है वहाँ पर आवश्यकतावश उनको वैसा ही रख दिया है।

त्रिमूर्त्ति	४४
पद्मरूप	४५
ब्रह्मरूप	४६, ६३
विष्णुरूप	४७, ६०
महादेवरूप	४८, ५५ (गौरीसत्र)
नासत्य	४९
शक्र	५०
यम	५१
वरुण	५२
वैश्रवण	५३, ८४ (ऐडूक)
गरुड़	५४
अग्नि	५६
विरूपाक्ष	५७
वायुरूप	५८
भैरव	५९
भूमिरूप	६१
गगन	६२, ७५
सरस्वती	६४
अनन्त	६५
देवीचतुष्टय तुम्बुरु	६६
आदित्य	६७
शशि	६८
ग्रह	६९

विष्णुधर्मोत्तर में मूर्त्तिकला

पहला अध्याय

त्रिमूर्त्ति के रूप का निर्माण विधान

वज्र बोले—हे पापरहित, देवता के रूप का निर्माण मुझे बतलाइये जिससे देवता सदा समीप रहें और उसका आकार शास्त्रानुसार होगा। मार्कण्डेयजी ने कहा—हे राजन्, देवता की मूर्त्ति का निर्माण कहते हुए (मुझसे) सुनो। हे राजन् आरम्भ में मैं त्रिमूर्तिधारी बलवान् विष्णु की प्रतिमा के शुभ लक्षण तुमसे कहूँगा। उन विष्णु की रजोगुणप्रधान मूर्त्ति का नाम ब्रह्मा है जो सबका निर्माण करनेवाली है। उनकी सतोगुणप्रधानमूर्त्ति स्वयं विष्णु है जो संसार का पालन करती है। उनकी तमोगुणप्रधान-मूर्त्ति की संज्ञा रुद्र है जो संहारकर्त्ता है।

विद्वान् मूर्त्तिकार ब्रह्मा[1] को सौम्य, चार मुख वाला, पद्मासनासीन, प्रसन्न किये जाने योग्य कृष्णाजिन (काला मृगचर्म)

---

[1] ब्रह्माणं कारयेद्विद्वान् देवं सौम्यं चतुर्मुखम्।
बद्धपद्मासनं तोष्यं तथा कृष्णाजिनाम्बरम्॥
जटाधरं चतुर्बाहुं सप्तहंसे रथे स्थितम्।
बामे न्यस्तं करतले तस्यैकं दोर्युगं भवेत्॥
एकस्मिन् दक्षिणे पाणावक्षमाला तथा शुभा।
कमण्डलुर्द्वितीये च सर्वाभरणधारिणः॥
सर्वलक्षणयुक्तस्य शान्तरूपस्य पार्थिव।
पद्मपत्रदलाग्राभं ध्यानसंमीलितेक्षणम्॥

का वस्त्र पहने, जटाधारी, चतुर्भुज, सात हंसों के रथ में आरूढ़ बनवावे उनकी भुजाओं का एक जोड़ा इस रूप में होना चाहिए कि बाएँ हाथ की हथेली में दाहिना हाथ रक्खा हो दूसरे जो भुजयुगल हैं उनमें दाहिने हाथ में अक्षमाला और बाएँ में कमण्डलु होना चाहिए। सब आभूषण पहने हों, सब लक्षणों से सम्पन्न, शान्त रूप का, कमलपत्र के अग्रभाग के समान कान्तिवाले; ध्यान में नेत्रों को मूँदे हुए प्रस्तरमूर्त्ति (अर्चा) चित्र अथवा पुस्तकर्म में ब्रह्मा की मूर्त्ति का निर्माण करना चाहिए।

तथा देवाधिदेव विष्णु को गरुड़ पर स्थित, कौस्तुभमणि से देदीप्यमान वक्षःस्थलवाले, सब आभूषणों को धारण करने वाले, जल से भरे हुए मेघ के समान कान्तिवाले तथा पीला दिव्य वस्त्र धारण किये हुए बनवाना चाहिए अर्थात् विष्णु की मूर्त्ति का इस प्रकार निर्माण कराना चाहिए। चार मुख, आठ

अर्चायां कारयेद्देवं चित्रे वा पुस्तकर्मणि।
देवदेवं तथा विष्णुं कारयेद्गरुडस्थितम्॥
कौस्तुभोद्भासितोरस्कं सर्वाभरणधारिणम्।
सजलाम्बुदसच्छायं पीतादिव्याम्बरं तथा॥
मुखाश्च कार्याश्चत्वारो बाहवो द्विगुणास्तथा।
सौम्यं तु वदनं पूर्वं नारसिंहं तु दक्षिणम्॥
कापिलं पश्चिमं वक्त्रं तथा बाराहमुत्तरम्।
तस्य दक्षिण हस्तेषु बाणाक्षमुसलादयः॥
चर्मचीरं धनुश्चेन्द्रचापेषु वनमालिनः।
कार्याणि विष्णोर्धर्मज्ञ शृणु रूपं पिनाकिनः॥
देवदेवं महादेवं वृषारूढं तु कारयेत्।
तस्य वक्त्राणि कार्याणि पञ्च यादवनन्दन॥
सर्वाणि सौम्यरूपाणि दक्षिणं विकटं मुखम्।
कपालमालिनं भीमं जगत्संहारकारकम्॥

भुजाएँ करनी चाहिए। पूर्व की ओर का सामने का मुँह (सौम्य) हँसता हुआ, दाहिना नृसिंह का, पीछे का कपिल का और बायाँ मुँह बाराह का होना चाहिए। उनके वनमाली दाहिने हाथों में बाण, अक्ष, मुसल इत्यादि तथा बाएँ हाथ में ढाल, चीर, धनुष, इन्द्रचाप करना चाहिए। हे धर्मज्ञ पिनाकधारी शिव का रूप सुनो।

देवाधिदेव महादेव को बैल पर चढ़ा हुआ निर्मित कराना चाहिए। हे यादवनन्दन उनके पाँच मुख करना चाहिए।

सब रूप सौम्य हों, दक्षिण मुख विकट कपालों की माला धारण किये हुए भयंकर तथा संसार का संहार करनेवाला हो। उत्तर मुख को छोड़कर सब मुख तीन नेत्रोंवाले हों। उनके बड़े जटा समूह में चन्द्रकला होनी चाहिए वासुकिनाग का यज्ञोपवीत बनाना

त्रिनेत्राणि च सर्वाणि वदनं ह्युत्तरं विना।
जटाकलापे महति तस्य चन्द्रकला भवेत्॥
तस्योपरिष्टाद्वदनं पञ्चमं तु विधीयते।
यज्ञोपवीतं च तथा वासुकिं तस्य कारयेत्॥
दशबाहुस्तथा कार्यो देवदेवो महेश्वरः!
अक्षमालां त्रिशूलं च शरदण्डमथोत्पलम्॥
तस्य दक्षिण हस्तेषु कर्त्तव्यानि महाभुज।
वामेषु मातुलिङ्ग च चापादर्शौ कमण्डलुम्॥
तथा चर्म च कर्त्तव्यं देवदेवस्य शूलिनः।
वर्णास्तथा च कर्तव्याश्चन्द्रांशुसदृशप्रभाः॥

श्रीविष्णुधर्मोत्तर तृ. खं. अ. ४४ ५-२०

त्रिमूर्त्ति—ईश्वर की त्रिमूर्त्ति की कल्पना की गई है। वह ब्रह्मा रूप से संसार का रचयिता; विष्णुरूप से पालक तथा रुद्ररूप से संहारक है। उसी एक परमात्मा में ये तीनों कृत्य निहित हैं।

चाहिए तथा देवाधिदेव महादेव को दश भुजाओंवाला करना चाहिए।

हे महाबाहु त्रिशूलधारी देवाधिदेव शिव के दाहिने हाथों में रुद्राक्षमाला, त्रिशूल, बाण; दंड, उत्पल (नील कमल) तथा बाएँ हाथों में नीबू (बिजौरा), धनुष, दर्पण, कमण्डलु तथा चर्म (ढाल) करना चाहिए और सम्पूर्ण वर्ण चन्द्रमा के किरणों के समान कान्तिवाला करना चाहिए।

दूसरा अध्याय

पद्मरूपनिर्माण विधान

मार्कण्डेयजी बोले—सोने, चाँदी, ताँबे तथा पीतल का सुन्दर केसरवाला कमल दो हाथ लम्बा करना चाहिए तथा आठ भागों में विभक्त करना चाहिए। हे राजन् कर्णिका गोल हो तथा अष्टमांश भाग से उठा हो तथा पुष्पदल से सटा हुआ रहे। कर्णिका के चारों ओर बावन गोल टुकड़े एक यव के नाप के हों। बड़ी विस्तार में षोडशांश हो पंखुड़ियों अर्थात् कर्णिका और पत्रों की दूरी दो हाथ के सोलहवें भाग के बराबर होना चाहिए।

उसकी प्रतिष्ठा करे वहाँ देवताओं की पूजा करे। उसी में ब्रह्मा तथा विष्णु की पूजा करे।

रूद्र, लक्ष्मी तथा देवराज संसार के स्वामी इन्द्र की पूजा करनी चाहिए वहाँ सूर्य और चन्द्रमा की पूजा करे। जिस देवता को मन में लक्ष्य करके कमल की प्रतिष्ठा की गई है उसी ही देवता की वहाँ पूजा करनी चाहिए; दूसरे देवता की कदापि नहीं।

मैंने यह कमल का रूप तुमसे कहा है। कमल सारी पृथ्वी कही गई है। फिर वहाँ देवताओं की पूजा करनी चाहिए। पूजित होते हुए वे वर देनेवाले हो जाते हैं।

तीसरा अध्याय

ब्रह्माजी की मूर्त्ति का निर्माण विधान

वज्र ने कहा—आपने रूप, गन्ध, रस, शब्द स्पर्श से रहित जिस पुरुष का वर्णन किया है उसका यह रूप कैसे बन सकता है।

मार्कण्डेयजी ने उत्तर दिया—उस परमात्मा का रूप प्रकृति (स्वाभाविक), (निर्विकार) तथा विकृति (विकार को प्राप्त होने-वाला) होता है। उसका जो रूप अलक्ष्य (न दिखाई देनेवाला) है वह प्रकृति कहा गया है।

सम्पूर्ण विश्व परमात्मा का विकृति या साकार रूप जानना चाहिए। साकार ब्रह्म की ही पूजा तथा ध्यान इत्यादि की जा सकती है। उस देव का साकार रूप ही विधिपूर्वक पूज्य होता है क्योंकि उसका अव्यक्त रूप देहधारियों के द्वारा बड़ी कठिनाई से अवगत किया जा सकता है।

इसलिए भगवान् ने अपनी इच्छा से ही अपने साकार रूप का दिग्दर्शन कराया है। स्वर्ग में रहनेवाले अर्थात् देवता लोग भी उसके अनेक रूपोंवाले साकार स्वरूप की ओर संकेत करते हैं।

इस कारण से परमात्मा के साकार रूप की पूजा की जाती है वह आकार जिस कारण से वैसा है वह मुझसे सुनो।

रजोगुण के कारण लालवर्ण अतः कमल के अग्रभाग के सदृश, सब जीवों से नमस्कृत ब्रह्मा को देवताओं में श्रेष्ठ जानना चाहिए। अर्थात् सब प्राणी ब्रह्मा को प्रणाम करते हैं।

ऋग्वेद ब्रह्मा का पूर्व मुख, यजुर्वेद दक्षिण मुख, सामवेद पश्चिम मुख और अथर्ववेद उत्तरमुख है।

जो वेद हैं वे मुख समझने चाहिए। चारों भुजाएँ दिशाएँ हैं। तथा जल से ही सम्पूर्ण स्थावर और जंगम संसार की उत्पत्ति है और उस जल को ब्रह्मा जी धारण करते हैं इससे उनके हाथ में कमण्डलु है। ब्रह्मा के हाथ की [1]अक्षमाला कालस्वरूप है। सब जीवों की संख्या (कलना, परिगणना) के कारण इसे काल कहा जाता है। यज्ञ में शुक्ल और कृष्ण कर्मों का समवाय है अतएव शुक्ल और कृष्ण वर्णों से युक्त जो कृष्ण मृगचर्म है वह ब्रह्मा का परिधान है। भूलोक, भुवलोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक ये सात लोक कहे गये हैं। ये जो सातों लोक हैं वे परमेष्ठी ब्रह्मा के रथ के हंस हैं।

जो कमल विष्णु की नाभि में उत्पन्न हुआ है हे राजाओं में श्रेष्ठ मेरु को उस कमल की कर्णिका (चोटी) समझनी चाहिए।

इसी कारण से सभी स्थलों में ब्रह्मा का ध्यानबन्ध निश्चित किया जाता है। भगवान् पृथ्वी से सम्बन्ध रखनेवाले [2]पद्मासन पर विराजमान हैं।

---

[1] प्रायः सभी देवता अक्षमाला का उपयोग करते हैं परन्तु रुद्र, ब्रह्मा, अग्नि और दुर्गा के लिए यह विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। यह एक प्रकार की माला होती है जो प्रयः रुद्राक्ष, मूँगे, स्फटिक या माणिक से बनाई जाती है।

[2]दाहिना पैर बाईं जाँघ पर तथा बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर रखकर हाथों को मोड़कर दोनों अँगूठों को दृढ़ता से पकड़े एवं ठुडी वक्षःस्थल की ओर झुकी हुई हो तथा नेत्र नासिका के अग्रभाग में लगे हों। रुद्रयामल तन्त्र में पद्मासन की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

उरुमूले वामपादं पुनस्तद्दक्षिणं पदम्।
वामोरौ स्थापयित्वा तु पद्मासनमिति स्मृतम्॥

अपने परमधाम को रूपहीन सोचना चाहिए। संसार की दृष्टि के लिए ध्यान में आँख बन्द किये हुए हैं अर्थात् संसार को देखने के लिए ध्यानावस्थित हो रहे हैं।

संसार को धारण करनेवाली औषधियाँ सर्वव्यापी महात्मा ब्रह्मा की जटाएँ जाननी चाहिए।

लोकप्रकाशक जो विद्यास्थान हैं उनको उन ब्रह्मा के भूषणसमूह समझना चाहिए।

उन अद्वितीय सब संसारमय ब्रह्मा का रूप ऊपर कहा गया है इसी प्रकार वह ब्रह्मा शरीर से सब संसार को धारण करता है।

मार्कण्डेय जी ने कहा कि [1]ब्रह्मा जी को कमलपत्रासनासीन चार मुखवाला बनाना चाहिए। सावित्री को उनकी बाईं गोद में बैठी हुई सूर्य के समान वर्णवाली और हाथ में रुद्राक्ष माला ली हुई करना चाहिए। दूसरा सब रूप पूर्वकथित के अनुसार करना चाहिए। वर देनेवाले अप्रतिम पितामह के इस रूप को निर्मित करना चाहिए। जिसके वश में सब लोक है उस वर देनेवाले का रूप पहले ही कहा गया है।

---

[1]पद्मपत्रासनस्थस्तु ब्रह्मा कार्यश्चतुर्भुजः।
सावित्री तस्य कर्त्तव्या वामोत्संगगता तथा॥
आदित्यवर्णा धर्मज्ञ साक्षमालाकरा तथा।
रूपं पूर्वोदितं कार्यं सर्वमन्यज्जगत्पते॥

वि. ध. तृ. खं. अध्याय ६३ श्लोक १–२

चौथा अध्याय

विष्णुमूर्त्ति का निर्माण

इस अध्याय में विष्णु की मूर्त्ति के निर्माण का विधान बतलाया गया है।

मार्कण्डेय जी, का कथन है कि संसार परम पुरुष का परिवर्त्तित रूप माना गया है और सब विकार कृष्ण (काला) है। उससे संसार का पालन होता है। जीवों की सृष्टि करनेवाले भगवान् कृष्णरूप को धारण करते हैं। ब्रह्मा के अनुरूप ही भगवान् विष्णु का सब आभूषण धारण करना कहा गया है। हरि छाती में ज्ञान और निर्मल कौस्तुभ मणि धारण करते हैं। वनमाला श्याम, बड़ी और विचित्र कही गई है। जिससे यह सब चराचर संसार बँधा हुआ है वह संसार का पालन करनेवाली अविद्या उसका वस्त्र है। विद्या श्वेत और अज्ञान काला कहा जाता है। अज्ञान और विद्या के बीच में होनेवाली अविद्या कही गई है। न काली है न सफेद इससे यह विद्या उत्तम है। मन सुवर्ण और कनक की उपमावाले मध्य को धारण करता है। सब जीवों के शरीर में स्थित मन को गरुड़ समझना चाहिए। उससे अधिक शीघ्रगामी और बली कोई नहीं है। चार दिशाएँ तथा चार विदिशाएँ शार्ङ्गधारी भगवान् विष्णु की आठ भुजाएँ कही गई हैं। बल, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा शक्ति उन देवाधिदेव के चार मुख जानने चाहिए। भगवान् वासुदेव, प्रभु संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध बल सूचक गुणों के प्रतीक कहे गये हैं। इन चारों महात्माओं की मूर्त्तियों में प्रत्येक के एक मुख और दो भुजाएँ होनी चाहिए।

वासुदेव के दोनों हाथों में सूर्य और चन्द्रमा समझना चाहिए। संकर्षण के दोनों हाथों में मुसल और हल तथा प्रद्युम्न के हाथों में धनुष और बाण बनना चाहिए। विज्ञों के द्वारा अनिरुद्ध के हाथों में चर्म और खड्ग कहे गये हैं। सूर्य और चन्द्रमा को पुरुष और प्रकृति जानना चाहिए। ये दोनों वासुदेव के हाथ के चक्र और गदा कहे गये हैं। काल को हल तथा मृत्यु को मुसल समझो। उन दोनों से संकर्षण रुद्र इस चराचर संसार को खींचते हैं। प्रद्युम्न के हाथ में अग्नि का शार्ङ्ग धनुष कहा गया है। योगियों का परम ध्येय तो लक्ष्य ही है। उनसे योगी लोग अपने अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। ब्रह्मा रूप अनिरुद्ध के हाथ में ढाल है। जो अज्ञान का आवरण है उसको संसार की समस्त सृष्टि का प्रयोजन समझना चाहिए। वैराग्य नन्दक खड्ग है उससे बन्धन काटकर योगी लोग शब्द करते हैं। इस कारण वह नन्दक कहा गया है।

मार्कण्डेय जी ने कहा कि विष्णु[१] का दूसरा रूप एक मुख और दो भुजाओंवाला, गदा और चक्र धारण करनेवाला कहा गया है। गान्धारी तो माया संसार बन्धन के लिए वैष्णवी कही

---

[१] एक वक्त्रो द्विबाहुश्च गदाचक्रधरः प्रभुः।
देहविन्यासमपरं प्रागुक्तं कीर्त्तितं हरेः॥
गान्धारी तु स्मृता माया जगद्बन्धाय वैष्णवी।
गदा देवकरे नित्यंसर्वभूतवशंकरी॥
सैव लक्ष्मीर्धृतिः कीर्त्तिः पुष्टिः श्रद्धा सरस्वती॥
गायत्री वेदजननी कालरात्रिस्तथैव सा॥
संसारभ्रमणं चक्रं चक्रं विष्णु करे स्थितम्।
धर्मचक्रं कालचक्रं भचक्रं च महाभुज॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ६० श्लो० २-५.

गई है। उनके हाथ में सब जीवों का वश में करनेवाली गदा नित्य ही सुशोभित रहती है। वही (गदा) लक्ष्मी धृति, कीर्ति, पुष्टि, श्रद्धा, सरस्वती, वेदजननी गायत्री तथा कालरात्रि है। हे महाबाहु, चक्र संसार को घुमानेवाला है तथा विष्णु के हाथ में स्थित है। धर्मचक्र, कालचक्र तथा नक्षत्रचक्र सभी विष्णु के हाथ में हैं। भगवान् विष्णु निर्दिष्ट चक्र को सर्वदा घुमाते हैं अतः वे संसार में चक्रपाणि कहे जाते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

महादेवजी के मूर्त्तिनिर्माण का वर्णन

मार्कण्डेय जी बोले हे महाभुज। सद्योजात, वामदेव अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान महादेव जी के पाँच मुख कहे गये हैं। सद्यो जात को पृथ्वी वामदेव को जल, अघोर को तेज, तत्पुरुष को वायु और ईशान को आकाश कहा गया है। पूर्व की ओर महादेव जी का मुख जानना चाहिए। उन महात्मा शिवजी के चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि तीन नेत्र होते हैं। दक्षिण मुख रौद्र है वह भैरव कहा गया है उनका जो मुख पश्चिम की ओर है वह नन्दिवक्त्र कहा जाता है। उत्तर मुख को उमावक्त्र पाँचवें मुख को सदाशिव कहते हैं। सब मुख त्रिनेत्र (तीन नेत्रवाले) हैं केवल वामदेव के ही दो नेत्र हैं। महादेव संज्ञक मुख पृथ्वी है उसके बाद भैरव मुख होना चाहिए। नन्दि मुख वायु है तथा वह रौद्र चाप भी कहा जाता है सदाशिव संज्ञक मुख आकाश जानना चाहिए। उनके पाँच मुख के अनुसार दस दिशाएँ भुजाएँ जाननी चाहिए अर्थात् उनके पाँच मुख की दश भुजाएँ दशो दिशाओं में व्याप्त हैं। महादेव जी के हाथ में रुद्राक्षमाला और कमण्डल बनाना चाहिए, सदाशिव नामक मुख (वाले हाथों) में धनुष बाण जानना चाहिए। महेश्वर का धनुष पिनाक ऐसा कहा गया है। भैरव के दोनों हाथों में दण्ड और बिजौरा होते हैं। सब संसार के बीज के जो परमाणु हैं उनसे परिपूर्ण बीजरत्न भैरव के हाथ में कहा गया है। नन्दी के हाथ में ढाल और शूल जानना चाहिए। ढाल के स्वभाव और महत्त्व को मैं पहले ही बतला चुका हूँ। त्रिशूल अव्यक्त दंड है। सत्त्व, रज और तम को त्रिशूल की तीन

फालें जानना चाहिए। वैसे ही देवी जी के हाथ में दर्पण और कमल जानना चाहिए। दर्पण निर्मल ज्ञान है तथा वैराग ही कमल है, ब्राह्मण महादेवजी की जटाएँ वर्णित की गई हैं। ऐश्वर्य तो शिवजी के मस्तक की चन्द्रकला कही गई है। त्रिलोक को शान्त करनेवाला क्रोध वासुकी नाम से कहा गया है। तृष्णा को विशाल और चित्रित व्याघ्रचर्म तथा वृष (बैल) को चार पैरवाला धर्म कहा गया गया है। संसार को उत्पन्न करनेवाली वस्तु प्रकृति कही गयी है और सब प्रकृति शुक्ल (श्वेत है) इससे शिवजी भी सफेद (गौरवर्ण) हैं।

मार्कण्डेय जी ने [१]गौरीशर्व की मूर्त्ति निर्माण के संबंध में कहा कि शिवजी की बाईं ओर आधे भाग में पार्वती का निर्माण तथा शिव को चार भुजाओंवाला करना चाहिए। उनके दाहिने हाथों में रुद्राक्षमाला और त्रिशूल तथा दोनों बाएँ हाथों में दर्पण और कमल करना चाहिए शिवजी का एक मुख बनाना चाहिए तथा बाँया स्त्री का शरीर हो। शिवजी को दो नेत्रोंवाला तथा सब आभूषणों से आभूषित करना चाहिए। पुरुष से भिन्न और अभिन्न प्रकृति रूप पार्वती का निर्माण करना चाहिए। यह सब लोकों से नमस्कृत गौरीशर्व नाम से प्रसिद्ध है। शूल इत्यादि के धारण करने का कारण मैंने तुम्हें पहले ही बतलाया है।

---

[१]वामार्धे पार्वती कार्या शिवः कार्यश्चतुर्भुजः ।
अक्षमालां त्रिशूलं च तस्य दक्षिण हस्तयोः ॥
दर्पणेन्दीवरौ कार्यौ वामयोर्यदुनन्दन ।
एकवक्त्रो भवेच्छम्भुर्वामा च दयिता तनुः ॥
द्विनेत्रश्च महाभाग सर्वाभरणभूषितः ।
अभेदभिन्ना प्रकृतिः पुरुषेण महाभुज ॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ५५श्लो० २-४

छठवाँ अध्याय

नासत्य[1] (अश्विनीकुमारों) की मूर्त्ति का निर्माण वर्णन

मार्कण्डेयजी बोले देवताओं के वैद्यों को कमल के पत्ते के रंग की कान्तिवाले तथा पद्मपत्र के समान वस्त्रवाले, दो भुजाओं-वाले और देवताओं से युक्त करना चाहिए। सब आभूषणों से युक्त विशेष रूप से सुन्दर नेत्रोंवाला बनाना चाहिए। उन दोनों के दाहिने हाथों में दिव्य औषधियाँ करनी चाहिए। बाएँ हाथों में देखने योग्य पुस्तकें बनाना चाहिए। एक के दाहिनी ओर तथा दूसरे की बाईं ओर सुन्दर रूपवाली तथा सुन्दर दर्शनवाली दो स्त्रियों को करना चाहिए उन दोनों के नाम रूपसम्पत्

---

[1]पद्मपत्रसवर्णाभौ पद्मपत्रसमाम्बरौ।
द्विभुजौ देवभिषजौ कर्त्तव्यौ देवसंयुतौ॥
सर्वाभरण सम्पन्नौ विशेषाच्चारु लोचनौ।
तयोरोषधतः कार्या दिव्या दक्षिणहस्तयोः॥
वामयोः पुस्तकौ कार्यौ दर्शनीयौ तथा द्विज।
एकस्य दक्षिणे पार्श्वे वामे चान्यस्य यादव॥
नारीयुगं तु कर्त्तव्य सुरूपं चारुदर्शनम्।
ततोश्च नामनीप्रोक्ते रूपसंपत्तथाकृतिः॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ४९,२-५

तथा आकृति कहे गये हैं। मधूक (महुआ) के पुष्प के समान रूपसम्पत् कही गई है तथा आकृति सरकंडे के समान कही गई है। उनको हाथ में बरतन लिये हुए तथा चन्द्रमा के समान श्वेत वस्त्रवाली न करना चाहिए। अश्विनीकुमारों के इस मुख्य रूप का ध्यान या पूजन करने से पृथ्वी पर मनुष्य के सब अनिष्ट दूर होते हैं।

सातवाँ अध्याय

इन्द्रमूर्त्ति का निर्माण

मार्कण्डेयजी ने कहा कि चार दाँतोंवाले हाथी पर देवताओं के स्वामी इन्द्र[1] को श्वेत निर्मित करना चाहिए। रक्षा करती हुई इन्द्राणी बाईं गोद में स्थित करनी चाहिए। इन्द्र को नील वस्त्रवाले, सोने की सी कान्ति वाले तथा सब आभूषणों को धारण किये हुए ललाट स्थित तिरछे नेत्र से युक्त करना चाहिए। इन्द्र को चार भुजाओंवाला तथा इन्द्राणी को दो भुजाओं वाली बनाना चाहिए। इन्द्र के दाहिने हाथ में कमल और वज्र बनाना चाहिए। बायाँ हाथ इन्द्राणी के पीठ पर रक्खा हुआ और दूसरा वज्र से युक्त करना चहिए। इन्द्राणी के बाएँ हाथ में सुन्दर सन्तानमंजरी (का

---

१. चतुर्दन्ते गजे शक्रः श्वेतः कार्यः सुरेश्वरः ।
वामोत्संगगता कार्या रक्षमाणा तथा शची ॥
नीलवस्त्रः सुवर्णाभः सर्वाभरणवांस्तथा ।
तिर्यग्ललाटगेनाक्ष्णा कर्त्तव्यश्च विभूषितः ॥
शक्रश्चतुर्भुजः कार्यो द्विभुजा च तथा शची ।
पद्मांकुशौ तु कर्त्तव्यौ शक्रदक्षिण हस्तयोः ॥
वामं शचीपृष्ठगतं द्वितीयं वज्रसंयुतम् ।
वामे शच्चाः करे कार्या रम्या संतानमंजरी ॥
दक्षिणं पृष्ठविन्यस्तं देवनाथस्य कारयेत् ।
वि. ध. तृ. खं. अ ५० श्लो० २-५

निर्माण करना चाहिए) तथा दाहिना हाथ इन्द्र की पीठ पर रक्खा हुआ वनाना चाहिए। उनका आभूषण धारण करना ब्रह्मा से ही निर्दिष्ट है। उसी से उनकी चार भुजाएँ कही गई हैं। देवाधि-देव शंकर से उनका त्रिनेत्रत्व कहा गया है। तेजोधाम होने के कारण उनका वर्ण सुवर्ण की कान्ति के समान है। जो नीलावस्त्र है वह आकाश कहा गया है। उनके हाथ में अंकुश सब जीवों को वश में करनेवाली आज्ञा है। कमल स्थित ऐश्वर्य को हाथ में धारण करते हुए श्रीमान् इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ हैं। उनका क्रोध दुष्टों का नाश करनेवाला वज्र इन्द्र का हाथ कहा गया है। इन्द्र वासुदेव कहे गये हैं इसलिए लक्ष्मी इन्द्राणी मानी गयी है। उनके हाथ में सन्तान मंजरी जाननी चाहिए। अर्थ ऐरावण जानना चाहिए वे उनके दाँत कहे गये हैं दैवमंत्र, प्रभु, उत्साह शक्ति बड़े बल हैं।

आठवाँ अध्याय

यम की मूर्त्ति का निर्माण

[1]यम को जल से परिपूर्ण, मेघ की सी कान्तिवाला, तपे हुए सोने के समान वस्त्रवाला, भैंसे पर बैठा हुआ तथा सब अभूषणों से युक्त करना चाहिए। नील कमल की कान्तिवाली धूमोर्णा को बाएँ उत्संग में करना चाहिए। धूमोर्णा की दो भुजाएँ तथा यम की चार भुजाएँ बनानी चाहिए। यम के दाहिने हाथों में दण्ड और खड्ग दोनों करना चाहिये। दंड के ऊपर अग्नि-ज्वाला के समूहों से युक्त मुख बनाना चाहिए। यम का बायाँ हाथ धूमोर्णा की पीठ पर तथा दूसरे में ढाल हो और धूमोर्णा का दाहिना

---

[1]सजलाम्बुदसच्छायस्तप्तचामीकराम्बरः।
महिषस्थश्च कर्त्तव्यः सर्वाभरणवान् यतः॥

नीलोत्पलाभा धूमोर्णा वामोत्संगे च कारयेत्।
धूमोर्णा द्विभुजा कार्या यमः कार्यश्चतुर्भुजः॥

दण्डखड्गावुभौ कार्यौ यमदक्षिणहस्तयोः।
दण्डोपरि मुखं कार्यं ज्वालमालाविभूषणम्॥

धूमोर्णापृष्ठगं वामं चर्मयुक्तं तथा परम्।
धूमोर्णा दक्षिणं हस्तं यमपृष्ठगतं भवेत्॥

वामे तस्याः करे कार्यं मातुलुङ्गं सुदर्शनम्।
पार्श्वेतु दक्षिणे तस्य चित्रगुप्तं च कारयेत्॥

वि. ध. तृ. खं. अ. ५१ श्लो० १-५

हाथ यम की पीठ पर होना चाहिए। उसके बाएँ हाथ में सुन्दर (मातुलुंग) (जँभीरी नीबू) तथा दाहिने बगल में चित्रगुप्त को बनाना चाहिए। सुन्दर वेश के अनुकूल दो भुजाएँ बनानी चाहिए। दाहिने हाथ में कलम और बाएँ में पत्र करना चाहिए। बाईं ओर भयंकर दर्शनवाला काल पाशधारी किया जाना चाहिए। तामसी शरीर धारण किये हुए यम को संकर्षण समझना चाहिए। मर्यादा पालन करने के लिए लोक के संहार करने का कारण तामस होने से नील कमल के पत्ते के से वर्णवाला कहा गया है। वासुदेव से उसका वक्त्र विख्यात है। ब्रह्मा से परमात्मा का चतुर्भुजत्व प्रसिद्ध है। ब्रह्मा से उसके सब आभूषणों का धारण करना बतलाया गया है मनुष्यों का मरणरूप मोह ही भैंसा समझना चाहिए। यम के हाथ में अमोघ मृत्युदंड है। उनका ढाल तलवार धारण करना अनिरुद्ध से कहा गया है। धूमोर्णा को कालरात्रि जानना चाहिए। उसका बीजपूरक धारण करना (शूली) शिव द्वारा कहा गया है। चित्रगुप्त को सब देहों में होनेवाला आत्मा बतलाया गया है। पत्र धर्म है तथा उनके हाथ में होनेवाली कलम अधर्म है। काल आकार में काला होने के कारण यम के समीप ही है। उनके हाथ का पाश यम का घोर और दुर्गम मार्ग है।

वज्र बोले—विष्णु की संहारकारिणी मूर्त्ति को संकर्षण माना गया है उन देवता को तुमने चन्द्रमा के समान शुभ्र शरीरवाला और महान् कहा है। संहारकारक गुण होनेवाले यम कृष्णमूर्त्ति कैसे हैं। मेरे इस संशय को दूर कीजिए।

मार्कण्डेयजी ने कहा कि विष्णु की साङ्कर्षिणी मूर्त्ति रुद्र संहारकारक है क्योंकि वह कल्पना में संसार का नाश करती है। तब संसार संहृत होकर प्रकृति में प्राप्त हो जाता है। उससे प्रकृति में होने के कारण संसार का क्षय करता है। ईश्वर यम के रूप में प्राणियों का बार-बार संहार करके भी प्राणियों की

प्रकृति में कभी योग नहीं धारण करता है। सुख-दुःख विकार में लगाता ही है उससे परिवर्तनशील संसार का संहार होता है। हे महात्मा यम के रूप का मैंने वर्णन किया अब जल के स्वामी वरुण की मूर्त्ति का निर्माण बतलाऊँगा।

नवाँ अध्याय

जल-जन्तुओं के स्वामी वरुण की प्रतिमा का विधान

मार्कण्डेयजी बोले कि सात हंसवाले रथ पर जल-जन्तुओं के स्वामी वरुण को चिकने वैदूर्यमणि के समान तथा श्वेत वस्त्रधारी निर्मित करना चाहिए। वरुण को कुछ लम्बे उदरवाला, मोतियों की माला धारण किये हुए, सब आभूषणों से युक्त तथा चार भुजाओंवाला बनाना चाहिए। मकर की पताका को बाईं ओर करना चाहिए। मस्तक पर अच्छा श्वेत छत्र हो और स्त्री सर्व-सुन्दरी हो। बाईं गोद में बैठी हुई गौरी को गौरांगी करना चाहिए। उनको दो भुजाओंवाली बनाना चाहिए। बाएँ हाथ में नील कमल और दाहिना वरुण की पीठ पर हो। वरुण देवता के दोनों दाहिने हाथों में पद्म और पाश और शंख तथा रत्नपात्र उनके बाएँ हाथों में करना चाहिए। उनके दाहिने पार्श्व में गंगाजी को मकर (घड़ियाल) पर स्थित, चामर सहित, हाथ में कमल लिये हुए, चन्द्रमा के समान गौर वर्ण तथा सुन्दर मुख से युक्त बनाना चाहिए। बाएँ पार्श्व में कूर्म पर बैठी हुई, चामर सहित हाथ में नीलकमल लिये हुए, सौम्य, नीलकमल के सदृश वर्णवाली यमुनाजी को निर्मित करना चाहिए। स्निग्ध वैदूर्य के समान जाल का रंग है अतः उसका प्रतिनिधित्व करने से वरुण का रंग वर्ण भी वैसा ही है। वे अपने स्वाभाविक वर्ण में अत्यन्त श्वेत हैं अतः उनके वस्त्र भी उनके अनुरूप ही अति उज्ज्वल किये गये

हैं। वज्र ने पूछा कि जल का कैसा रंग है, आपने तो सत्य और असत्य दोनों कहा है। यह तो मैं सुनना चाहता हूँ क्योंकि मुझे बड़ा कौतूहल है। मार्कण्डेयजी ने कहा कि हे यदुनन्दन जल का वैदूर्य की कान्तिवाला रंग मिथ्या (असत्य) है छाया-गत आकाश का वह रूप उनमें दिखलाई पड़ता है। हे राजन्! झरनों के गिरने से चन्द्रमा की किरणों के समान जो रूप जल का दिखलाई पड़ता है वह अपने रूप में ही प्रतिष्ठित है। जल-जन्तुओं के स्वामी वरुण वासुदेव के पुत्र प्रद्युम्न हैं। उनकी स्त्री गौरवर्णवाली रति समझना चाहिए। उसके (रति के) हाथ में रक्तकमल सौभाग्यस्वरूप है। वरुण के हाथ में कमल ब्रह्मा के नियम का द्योतक है। शंख को अर्थ तथा संसार को पाशबन्धन समझो। हाथ में रत्नपात्र को वसुन्धरा पृथ्वी समझना चाहिए और यश सुन्दर श्वेत छत्र, सुख मकर ही है। ब्रह्माजी से उसका भुजा रूपी आभूषण धारण करना 'कहा गया है। लवणसागर, क्षीरसागर, घृतसागर, दधिसागर, इक्षुरसोदसागर तथा सुरोदसागर नाम के समुद्र लोक में प्रसिद्ध हैं। उन महात्मा वरुण[1] के रथ में ये ही सात हंस हैं। यमुना को स्त्री तथा गंगा को सिद्धि समझनी चाहिए तथा वीर्य और काल मकर और कच्छप कहे गये हैं। हाथ में स्वर्गगंगा का कमल और यमुना का नील कमल है।

---

[1] सप्तहंसे रथे कार्यो वरुणो यादसाम्पतिः।
स्निग्धवैडूर्यसंकाशः श्वेताम्बरधरस्तथा ॥
किंचित्प्रलम्बजठरो मुक्ताहारविभूषणः।
सर्वाभरणवान्राजा तथा देवश्चतुर्भुजः ॥
वि० ध० तृ. ख० अ० ५२ श्लो. १-२

दशवाँ अध्याय

धनद कुबेर की मूर्त्ति के निर्माण का वर्णन

मार्कण्डेयजी बोले—धनद कुबेर को कमलपत्र तथा सुवर्ण की कान्तिवाला, मनुष्य वाहनवाला और सब आभूषणों से आभूषित करना चाहिए। उनका पेट लम्बा हो, चार भुजाएँ हों, बायाँ नेत्र पीला तथा वेश अत्यन्त सुन्दर हो कवच धारण किये हों तथा माला उदर तक लटकती हो। श्मश्रु (दाढ़ी) रखनेवाले कुबेर के मुख में दो डाढ़ करना चाहिए। उनके शत्रु नाशक सिर को बाईं ओर से झुका हुआ करना चाहिए। बाईं गोद में बैठी हुई बरदायिनी ऋद्धि देवी को (दो भुजाओं से युक्त) बनाना चाहिए। दो भुजाओं वाली उनका दाहिना हाथ कुबेर की पीठ पर हो। उनके बाएँ हाथ में रत्नपात्र तथा दाहिने में गदा और शक्ति करनी चाहिए। पताका सिंह के चिह्न से युक्त, चरणों के लिए पालकी के आकार का पादपीठ निधियुक्त स्वरूप तथा शंख और पद्म को निधि करना चाहिए। उनके पार्श्व से शंख और पद्म तक निकला हुआ मुख हो। कुबेर को अनिरुद्ध समझना चाहिए। सुवर्ण धनों में श्रेष्ठ धन प्रसिद्ध है। अतः वे सुवर्ण की क्रान्तिवाला वस्त्र पहनते हैं। शक्ति ही शक्ति कही गई है तथा गदा दण्डनीति और ऋद्धि को स्वभाव से लोक यात्रा जानना चाहिए। उनके हाथ के रत्न-पात्र को गुणाधार कहते हैं। मनुष्य को राजा समझो जहाँ सर्वव्यापी सर्वदा रहता है। शंख, पद्म स्वरूप से निधि माने गये हैं। सिंहाङ्क

लक्षणवाली पताका इच्छा समझी जानी चाहिए। कुबेर[१] की दाढ़ें निग्रह और अनुग्रह हैं। यक्ष के समान शब्द करनेवाले तथा यक्षों के राजा कुबेर का अनन्त दंष्ट्रावाला होना सिद्ध है। दूसरे अध्याय में मार्कण्डेयजी कहते हैं कि कुबेर की पूजा करने से मानों संसार की पूजा हो गई। बुद्धिमान् कलाकार को सुन्दर चार सीढ़ियों से दिशा के अनुसार भद्रपीठ करना चाहिए। उसके ऊपर दूसरा भद्रपीठ करावे। तदनन्तर उसके ऊपर दूसरा वैसा ही भद्रपीठ बनवावे। उसके ऊपर लिङ्गरूप करना चाहिए तथा उसे लिंगरेखा से सुशोभित करना चाहिए। उसके मध्य में चौकोर दृढ़ यष्टि बनवावे उसके ऊपर तेरह भूमिकाएँ करनो चाहिए। वैसे ही उसके ऊपर स्वच्छतारा का निर्माण करना चाहिए। उसके ऊपर गोल यष्टि करनी चाहिए। सम अर्धचन्द्र के बीच में स्थित चन्द्रक से शोभायमान जो भूमिका मुझसे कही गई है वैसे ही स्वच्छ तारा भी। उन चौदह भुवनों को तुम्हें जानना चाहिए। लिंग में महेश्वर देव हैं, गोल छड़ी ब्रह्मा है। चौकोर छड़ी भगवान् विष्णु हैं।

---

[१]कर्तव्यः पद्मपत्राभो धनदो नरवाहनः।
चामीकराभो धनदः सर्वाभरणभूषणः॥
लम्बोदरश्चतुर्बाहुम पिंगललोचनः।
अपीच्यवेशः कवची हारभारार्पितोदरः॥
द्वे च दंष्ट्रे मुखे तस्य कर्त्तव्ये श्मश्रुधारिणः।
वामेन विनता कार्या मौलिस्तस्यारिमर्दिनी॥
वामोत्संगगता कार्या ऋद्धिर्देवी वरप्रदा।
देवपृष्ठगतं पाणिं द्विभुजायास्तु दक्षिणम्॥
रत्नपात्रकरं कार्यं वामं रिपुनिषूदन।
गदाशक्ती चकर्त्तव्ये तस्य दक्षिण हस्तयोः॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ५३ श्लोक १-५

वैसे ही तीन भद्रपीठ गुणरूप से जानना चाहिए। चराचर सहित त्रैलोक्य भुवनों के नीचे तथा लिंग के ऊपर गुणाधान ऐसा कहा गया है। और लोकपालों को चतुर्दिक हाथ में शूल लिए हुए करना चाहिए। विरुढ़, धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष, यादव और कुबेर को अत्यन्त तेजस्वी सूर्य का वेश धारण करनेवाले सब कवचधारी तथा शुभ आभूषणों से विभूषित करना चाहिए। विरूपाक्ष को देवताओं का स्वामी इन्द्र तथा धृतराष्ट्र को भुवननायक यम समझो। विरूपाक्ष को जल-जन्तुओं का स्वामी वरुण समझो। कुबेर को राजराजेश्वर धन देने वाला स्वामी समझो।

ग्यारहवाँ अध्याय

गरुड़ की मूर्त्ति का निर्माण

मार्कण्डेयजी ने कहा कि [1]गरुड़ के चार भुजाएँ, नेत्र और मुख गोल, उल्लू के आकार की नासिका बनाई जाती है तथा उनकी आभा मरकतमणि के समान हो। जाँघ, घुटना और पैर गृध्र के समान, तथा दो पंख बनाना चाहिए। प्रभा के समूह से सोने के रंग का, पंखों से रहित हो। छत्र और पूर्ण (भरा हुआ) घड़ा उनके दोनों हाथों में करना चाहिए वैसी ही उनकी अञ्जलि बनानी चाहिए। जब उनकी पीठ पर भगवान् स्थित हों तो दोनों हाथों को छत्र और कुम्भ से युक्त नहीं करना चाहिए। भगवान् के दोनों चरणों को रक्खे हुए करना चाहिए। उन्हें कुछ लम्बे पेटवाला तथा सब आभूषणों से युक्त बनाना चाहिए। ताल-ताल की आकृति का तथा मकर-मकर की आकृति का किया जाना चाहिए। वैसे ही उनके ऊपर न गिरनेवाले भालू के समान करना

---

[1]तार्क्ष्यो मारकतप्रख्यः कौशिकाकारनासिकः।
चतुर्भुजस्तु कर्तव्यो वृत्तनेत्रमुखस्ततः॥
गृध्रोरुजानुचरणः पक्षद्वयविभूषणः।
प्रभासंस्थानसौवर्णः कलापेन विवर्जितः॥
छत्रं च पूर्णकुम्भं च करयोस्तस्य कारयेत्।
करद्वये तु कर्त्तव्यं तथास्य रचिताञ्जलिः।
तथास्य भगवान् पृष्ठे छत्रकुम्भधरौ करौ॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ५४ श्लो० २-५

चाहिए। मन, संसार, प्रेम और कर्म को क्रमशः वासुदेव, अच्युत, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध कहा गया है। गरुड़ और ताल सहित मकर की पूजा करनी चाहिए क्योंकि उनका सम्बन्ध जल के स्वामी विष्णु; यम और वरुण से है। विज्ञों द्वारा वे पक्षियों, जल और अग्नि के स्वामी के लिए भी निर्दिष्ट किये गये हैं।

बारहवाँ अध्याय

अग्निदेव की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

मार्कण्डेयजी ने कहा कि [1]अग्नि को लाल, जटाधारी, धूम्रवस्त्र-वाला, ज्वालासमूहों से युक्त सौम्य, त्रिनेत्र तथा श्मश्रुधारी बनाना चाहिए। अग्निदेव की चार भुजाएँ चार डाढ़ (दंष्ट्रा) चार तोतों से युक्त तथा धूम से चिह्नित रथ पर स्थित करना चाहिए। वायु को उनका सारथी बनाना चाहिए। जिस प्रकार इन्द्र की गोद में इन्द्राणी बैठती हैं उसी प्रकार बायें गोद में स्वाहा को निर्मित करना चाहिए। देवी हाथ में रत्नपात्र लिये हों। अग्निदेव के दाहिने हाथों में ज्वाला और त्रिशूल करना चाहिए और रुद्राक्षमाला बाएँ हाथों में। तेज का रूप लाल है अतः अग्नि को रक्तवर्ण कहा गया है। यह प्रसिद्ध ही है कि पवन उनका सारथी है तथा धूम्र ही उनका क्षेत्र है। वे यज्ञ के धुएँ के रंग का वस्त्र धारण करते हैं। उनका रुद्राक्षमाला त्रिशूल जटा समूह तीन नेत्र तथा सब आभूषणों का धारण करना शिवजी द्वारा ग्रहण किया गया है, ऐसा कहा जाता है। ज्वाला के रूप में

---

[1]रक्तं जटाधरं वन्हिं कुर्याद्वै धूम्रवाससम्।
ज्वालामालाकुलं सौम्यं त्रिनेत्रंश्मश्रुधारिणम् ॥
चतुर्बाहुं चतुर्दंष्ट्रं देवेशं वातसारथिम्।
चतुर्भिश्च शुकैर्युक्तं धूमचित्ररथे स्थितम् ॥
वामोत्संगे ता स्वाहा शक्रस्येव शची भवेत्।
रत्नपात्रकरा देवी वह्नेर्दक्षिणहस्तयोः ॥
ज्वालात्रिशूलौ कर्त्तव्यौ चाक्षमाला तु वामके।

वि. ध. तृ. खं. अ. ५६ श्लोक १-४

हुत वस्तु को ग्रहण कर सब देवताओं को उनका-उनका भाग पहुँचाता है। वाग्दंड, धिग्दंड, धनदंड तथा वधदंड उनके ये चार डाढ़ कहे गये हैं। दूब उनकी परम पवित्र दाढ़ी कही गई है। वेद उन महात्मा के रथ में लगे हुए तोते हैं। अग्नि का रूप धर्मप्रद एवं नित्य कहा गया है जिसके लिए संसार में वेद प्रवृत्त हुए और जो सब देवता और राक्षसों का मुख है। यह मनुष्यों के पाप दूर करता है तथा सिद्धिदाता है।

तेरहवाँ अध्याय

विरूपाक्ष के रूपनिर्माण का वर्णन

[1] विरूपाक्ष को फैले हुए नेत्र, प्रांशु (लम्बे) दंड और उज्ज्वल मुख, ऊर्ध्वकेश, भूरी डाढ़ी, दो भुजाओं और भयंकर मुखवाला, वर्ण में लाल तथा काले रंग और काला वस्त्र तथा सब आभूषणों को धारण करनेवाला और दंडरश्मि हाथ में लिये हुए निर्मित करना चाहिये। उनकी स्त्री देवी निनृति श्याम अंग तथा श्याम मुखवाली और हाथ में पाश लिये हुए बाईं ओर की जानी चाहिए। काल विरूप नेत्रोंवाला कहा गया है तथा मृत्यु निनृति कही गई है। काल का रूप तामस है तथा काला वस्त्र धारण करता है। उनके हाथ में दंड ही मृत्यु है और उष्ट्ररश्मियाँ ही सांसारिक बन्धन हैं तथा महामोह ऊँट कहा गया है वह उनका वाहन है।

---

[1] विरूपाक्षो विवृत्ताक्षः प्रांशुदण्डोज्ज्वलाननः।
ऊर्ध्वकेशो हरिच्छ्मश्रुर्द्विबाहुर्भीषणाननः॥
वर्णेन रक्तकृष्णाङ्गः कृष्णाम्बरधरस्तथा।
सर्वाभरणधारी च दण्डरश्मिकरः तथा॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ५७ श्लो० १-२

चौदहवाँ अध्याय

वायु की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

पवन को आकाश के रंगवाला तथा उसका उसी आकार का वस्त्र करना चाहिए। [1]वायु से आपूरित वस्त्र तथा दो भुजाओं वाला और रूप सम्पन्न होना चाहिए। जाने की इच्छा वाली उनकी स्त्री शिवा को बाईं ओर करना चाहिए। पवन को दोनों हाथों से वस्त्रान्त (अञ्चल) को ग्रहण किये हुए बनाना चाहिए। देवी शिवा परम सुन्दरी की जानी चाहिए। पवनदेव को व्याधित मुख तथा विकीर्ण केशोंवाला निर्मित करना चाहिए। जिसके आश्रय से वायु गन्धवर्ण इत्यादि धारण करता है। उस चाल के आश्रय से वह अञ्जन (काले) वर्ण का हो जाता है। (अर्थात् वायु प्रवहमान होकर गन्ध ग्रहण करता है चलने के कारण ही उसका रंग काला हो जाता है)। वही उसका वस्त्र आकाश कहा गया है। गति ही शिवादेवी है और अनिरुद्ध पवन है।

---

[1]वायुरम्बरवर्णस्तु तदाकारोऽम्बरो भवेत्।
वाय्वापूरितवस्त्रश्च द्विभुजो रूपसंयुतः॥
गमनेच्छा शिवा भार्या तस्य कार्या च वामतः।
कार्यो गृहीतवस्त्रान्तः कराभ्यां पवनो द्विज॥

वि. ध. तृ. खं. अ. ५८ श्लो० १-२

पंद्रहवाँ अध्याय

भैरवजी की मूर्त्ति का निर्माण

[1]भैरवजी को बड़े उदर, गोल पीले नेत्रोंवाला निर्मित करना चाहिए। दंष्ट्रा (जबड़ा) के कारण भयंकर मुख, फूले हुए नासापुटवाला, कपालों की माला पहिने हुए, भयंकर सब ओर सर्प का अभूषण धारी बनाना चाहिए। सर्प से पार्वती को भयभीत करते हुए जलपूर्ण मेघ के समान वर्णवाला, गजचर्म ओढ़े हुए रूप का निर्माण करना चाहिए। बहुत सी भुजाओं से युक्त, सब शास्त्रों से विभूषित, बड़े साल के समान शुभ तीक्ष्ण नखों से साँचे में ढला हुआ भैरव का यह रूप कहा गया है। यह ही अच्छे मुखवाला महाकाल का रूप कहा गया है। देवी को बाईं ओर तथा हाथ में सर्प निर्मित करना चाहिए। और इनके सामने भगवती पार्वती को नहीं करना चाहिए। इनके समीप मातृगणों के प्रधान होने पर श्वेत या लाल नहीं करना चाहिए। इनका दूसरा परिजन और अनेक रूपवाले गणों को निर्मित करना चाहिए।

---

[1]लम्बोदरं तथा कुर्याद् वृत्तपिंगललोचनम्।
दंष्ट्राकरालवदनं फुल्लनासापुटं तथा॥
कपालमालिनं रौद्रं सर्वतः सर्पभूषणम्।
व्यालेन त्रासयन्तं च देवीं पर्वतनन्दिनीम्॥
सजलाम्बुदसंकाशं गजचर्मोत्तरच्छदम्।
बाहुभिर्बहुभिर्व्याप्तं सर्वायुधविभूषणैः॥
बृहत्सालप्रतीकाशैस्तथा तीक्ष्णनखैः शुभैः।
साचीकृतमिदं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम्॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ५६ श्लो० १-४

सोलहवाँ अध्याय

भूमि का रूपनिर्माण

[1] पृथ्वी को शुक्लवर्ण, दिव्य आभूषणों से भूषित, चार भुजाओं तथा सुन्दर शरीरवाली और चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल वस्त्र पहिने निर्मित करना चाहिए। पृथ्वी के हाथ में रत्नपात्र, सस्यपात्र औषधि युक्त पात्र और कमल बनाना चाहिए। वैसे ही उसे चार दिङ्नागों (दिशा के हाथियों) की पीठ पर स्थित करना चाहिए। सब औषधियों से युक्त देवी शुक्लवर्णा कही गई है। उनका श्वेत वस्त्रधर्म है और हाथ में स्थित कमल धन है।

---

[1] शुक्लवर्णा मही कार्या दिव्याभरणभूषिता।
चतुर्भुजा सौम्यवपुश्चन्द्रांशुसदृशाम्बरा॥
रत्नपात्रं सस्यपात्रं पात्रमोषधिसंयुतम्।
पद्मं करे च कर्त्तव्यं भुवो यादवनन्दन॥
दिङ्नागानां चतुर्णां सा कार्या पृष्ठगता तथा।
सर्वौषधियुता देवी शुक्लवर्णा ततः स्मृता॥
धर्मवस्त्रं सितं तस्याः पद्ममर्थं तथा करे।

वि. ध. तृ. ख. अ. ६१; १-२

सत्रहवाँ अध्याय

गगन के रूपनिर्माण का वर्णन

मार्कण्डेयजी ने कहा कि आकाश[1] को नील कमल की कांति तथा नील वस्त्रधारी दो भुजाओं तथा सौम्य दर्शनवाला निर्मित करना चाहिए। चन्द्रमा और सूर्य को उसका हाथ करना चाहिए। जड़ में चौकोर तथा गोल उसके ऊपर थोड़ा चौकोर होना चाहिए। तदनन्तर किंचित् चौकोर तब मेरु के समान स्थित हो। यह आकाश का तीसरा भाग भद्रपीठ कहा गया है। सब भद्रपीठों का यह लक्षण कहा जाता है। मध्य भाग चौकोर है और संभव कहा गया है। तब भद्रपीठ होता है वहाँ कमल रखना चाहिए। उनके मध्य में शुभ आठ पत्ते हों कर्णिका में सूर्य हो। वहाँ पत्तों में दिक्पालों को दिशाओं के अनुसार बनावे। भद्रपीठ के नीचे पृथ्वी की कल्पना करे तथा आकाश को स्तम्भ उसके बाद ऊपर का भाग जानते हैं। वहाँ सब उत्तम देवता सन्निहित होते हैं। हे महा-भुज ! मैंने आकाश को सर्वदेवयुक्त कहा है। उसकी पूजा करके सब कामनाओं को प्राप्त करना चाहिए। आकाश की पूजा करने से समस्त चराचर पूजित हो जाता है।

---

[1]नीलोत्पलाभं गगनं तद् वर्णाम्बरधारिणम्।
चन्द्रार्कहस्तं कर्त्तव्यं द्विभुजं सौम्यदर्शनम्॥
वि. ध. तृ. ख. अ ६२ १

अठारहवाँ अध्याय

सरस्वती की मूर्त्ति का निर्माण

[१]सरस्वती देवी को सब आभूषणों से भूषित चार भुजाओं वाली और खड़ी हुई करनी चाहिए। उनके दाहिने हाथों में पुस्तक और अक्षमाला तथा बाएँ हाथों में त्रिष्णु का कमंडल करना चाहिए। समरूप से चरणों की प्रतिष्ठा तथा चन्द्रमा के समान उनका मुख करना चाहिए। वेदों को उनकी भुजाएँ तथा सब शास्त्रों को पुस्तक और सर्वशास्त्र के अमृतरूपी रस को कमंडल जानना चाहिए। उनके हाथ में अक्षमाला ही कालस्वरूप है। मूर्त्तिमती सिद्धि को वैष्णावी तथा उनके मुख को सर्वाद्या सावित्री समझना चाहिए। वह कमल के समान नेत्रोंवाली है सूर्य और चन्द्रमा उनके नेत्र कहे गये हैं। सर्वसिद्धि की कामना रखनेवालों को इस मूर्ति का निर्माण तथा ध्यान करना चाहिए।

---

[१]देवी सरस्वती कार्या सर्वाभरणभूषिता।
चतुर्भुजा सा कर्तव्या तथैव च समुत्थिता॥
पुस्तकं चाक्षमालां च तस्या दक्षिणहस्तयोः।
वामयोश्च तथा कार्या वैष्णवी च कमण्डलुः॥
समपादप्रतिष्ठा च कार्या सोमुमुखी तथा।
वेदास्तस्या भुजा ज्ञेयाः सर्वशास्त्राणि पुस्तकम्॥

वि. ध. तृ. खं. अ. ६४ श्लोक १-३

उन्नीसवाँ अध्याय

अनन्त की मूर्त्तिनिर्माण का विधान

मार्कण्डेय जी ने कहा कि चन्द्रमा के समान, रत्नों के कारण उज्ज्वल फणों से युक्त अनन्त को[1] नीलवस्त्र युक्त, चार भुजाओं से समन्वित तथा सब आभूषणों को धारण करनेवाला बनाना चाहिए। बहुत से फण किये जाने चाहिए। उसका जो मध्यम फण हो उस पर रूपवती पृथ्वी का निर्माण करना चाहिए। देवता के दाहिने हाथों में कमल और मुसल करना चाहिए। बाएँ हाथों में हल और शंख और उसके हाथ में मदिरापान बनाना चाहिए। सारा संसार तालवृक्ष कहा गया है। हल, मूसल और वनमाला की व्याख्या पूर्व ही कर दी गई है। उससे भगवान् अनन्त शैल, वन और काननयुक्त पृथ्वी को धारण करते हैं। इसलिए उसके मध्यम फण पर पृथ्वी की रचना करनी चाहिए। यह अचिन्त्य परमेश्वर विष्णु का रूप है।

---

[1] कुर्याच्छशांकसंकाशं रत्नोज्ज्वलफणान्वितम्।
नीलवस्त्रं चतुर्बाहुं सर्वाभरणधारिणम्॥
फणाश्च बहवः कार्या यत्फणं तस्य मध्यमम्।
तत्र रूपवती कार्या वसुधा यदुनन्दन॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ६५ श्लोक २-३

बीसवाँ अध्याय

चार देवियों सहित तुम्बुरु के रूपनिर्माण का विधान

मार्कण्डेयजी ने कहा कि प्रभु [1]तुम्बुरुदेव को माताओं के बीच में स्थित करना चाहिए। शिवजी के पुत्र चार मुखवाले साँड़ पर बैठा हुआ किया जाना चाहिए। उनको बैठी हुई स्थिति में बनाना चाहिए। महादेवजी द्वारा कथित उनके सब रूप को मैंने तुमसे कहा है। मातुलुङ्ग (बिजौरा) धारण करनेवाले हाथ में कपाल करना चाहिए। उनके दक्षिण ओर दो माताएँ हों और बाईं ओर भी दो माताएँ करनी चाहिए। दाहिनी ओर जया और विजया बाईं ओर जयन्ती तथा अपराजिता करनी चाहिए। सबों की दो भुजाएँ और चार मुख करना चाहिए। सबों की बाएँ हाथों में कपालों को करना चाहिये। जया के दाहिने हाथ में दण्ड तथा विजया के हाथ में भिन्न अंजन की कान्तिवाला खड्ग करना चाहिये। जयन्ती के हाथ में अक्षमाला तथा अपराजिता के हाथ में भिन्दिपाल करना चाहिये

---

[1]कर्त्तव्यस्तुम्बुरुर्देवो मातृमध्यगतः प्रभुः।
उपविष्टो वृषे कार्यः शर्ववत्स चतुर्मुखः॥
उपविष्टस्तु कर्त्तव्यः सतु पार्थिवसत्तम।
महादेवेन तस्योक्तं रूपं ते सकलं मय॥
कपालं स्वस्य कर्त्तव्यको मातुलुंगधरे करे।

वि. ध. तृ खं. अ. ६६ श्लो० १-३

सबों का चरण पादपीठ पर रक्खा हुआ करना चाहिये दाहिने पैर को बायें पर टेढ़ा करके रक्खे। जया को पुरुष पर स्थित विजया को कौशिक (उल्लू) पर जयन्ती को अश्व पर और अपराजिता को मेघ पर आरूढ़ करना चाहिये। तुम्बुरु महादेव को चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण करना चाहिये। देवियों के प्रिय के लिये भुवनरक्षक भगवान् शंकर भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करते हुए स्थित हैं।

इक्कीसवाँ अध्याय

आदित्य के रूपनिर्माण का विधान

मार्कण्डेय जी ने कहा कि सूर्य को शुभ्र दाढ़ी वाला, सेन्दुर-रूपी आभूषण की कान्ति से युक्त, भलीभाँति चमकते हुये वेष से समन्वित, सुन्दर आकार वाला, और सब आभूषणों से युक्त, चतुर्भुज, महातेजस्वी तथा कवच से आवृत करना चाहिये। इनका सारथी यावियाङ्ग नामक करना चाहिये। उनके बाएँ और दाहिने हाथों में लगाम तथा सब प्रकार से पुष्पों से युक्त लम्बी देदीप्यमान शुभ्र माला करनी चाहिये। इनकी बाईं ओर अच्छे रूप और आकार वाली दंडी तथा दाहिने भाग में [1]पिंगल अत्यन्त पीला करना चाहिये। उन दोनों का उद्दीप्तवेश करना चाहिये। तथा उन दोनों के सिर पर सूर्य के दोनों हाथ रखना चाहिये। पिंगल के हाथ में कलम और कागज हो वैसे ही देवता के हाथ में चर्म और शूल हो। सूर्य की बाईं ओर सिंहांकित ध्वजा करनी चाहिये। उनके दोनों ओर उनके चार पुत्र रेवन्त, यमुना और दोनों मनुओं को बनाना चाहिये। ग्रहों के राजा सूर्य को ग्रहों से घिरा हुआ करना चाहिये। राज्ञी, रिक्षुभा, छाया तथा देवी सुवर्चसा इनके बगल में चार पत्नियाँ करनी चाहिये। सूर्यदेव को एक पहिये तथा सात घोड़ों से युक्त छः रेखाओं से चिह्नित उत्तम रथ पर बैठा हुआ निर्मित करना चाहिये। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द सूर्य के रथ के घोड़े हैं। करस्थ रश्मियों से वह सारे संसार को धारण करता है। उनकी पताका में स्थित सिंह साक्षात् धर्म कहा गया है। तथा देव रशना-

---

[1]पिंगल सूर्य के एक गण का नाम है।

स्थित सारे संसार को धारण करता है। राज्ञी, भूरेप्तुभा द्यौ, छाया, प्रभा, सुवर्चसा उस देवता की पत्नियाँ कही गई हैं। तेजों के विधान होने के कारण वे भगवान् लाल रंग के हैं। असह्य तेज धारण करने और गूढ़ शरीरवाला होने से इस प्रकार सर्वयुक्त धाम सूर्य ही कहा गया है।

—

बाईसवाँ अध्याय

चन्द्रमा की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

महातेजस्वी प्रभु चन्द्रमा को श्वेत शरीर तथा श्वेत वस्त्र धारण किये हुए चतुर्भुज और सब आभूषणों से आभूषित करना चाहिए। उस देवता के हाथों में श्वेत कुमुद का निर्माण करना चाहिए। दाहिने बगल में कान्ति को (मूर्तिमती करनी चाहिए)। वाईं ओर पृथ्वी पर अनुपम रूपवाली शोभा की मूर्तिमती करनी चाहिये। वैसे ही उसके वामपार्श्व में एक आकारवाले सिंहांक चिह्न का निर्माण करना चाहिये। रथ को दस घोड़ों से युक्त; दो पहिये तथा वस्त्र एवं सारथी से समन्वित करना चाहिये। स्त्रज, त्रिमना, बृष, वादी, नर, वाक, सप्तधातु, हंस, व्योम तथा मृग ये चन्द्रमा के दस घोड़े बाईं ओर से बनाने चाहिये। तदनन्तर अतिरूप सम्पन्न अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र नाम की अट्ठाइस स्त्रियों का निर्माण करना चाहिये। (अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्प, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, जेष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, अभिजित, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती ये अट्ठाइस नक्षत्र हैं) चन्द्रमा के देह के भेदों के अनुसार उनके बयासी भावों का निर्माण करना चाहिए। प्राचीन काल में देवासुर प्रसाम में नक्षत्रस्वामियों ने स्वेच्छा से अपने स्वामी उन-उन देवताओं के रूप के समान अपने शरीर को अनेक रूपों में परिणत किया जिससे दानव मारे गये। नक्षत्र ने जिस-जिस देवता का रूप ग्रहण किया वह ही उस

नक्षत्र का देवता कहा गया है। तब देवता और राक्षसों के युद्धार्थ प्रवृत्ति होने पर इच्छानुसार स्त्रीरूपधारी देवता उतने ही किये गये। चन्द्रमा सब लोक का पिता कहा गया है और उसकी सृष्टि होने पर सारा संसार प्रसन्न होता है। उसे महात्मा विष्णु की उत्कृष्ट सौम्यमूर्ति समझनी चाहिए। चन्द्रमा के हाथों के दोनों कुमुद हर्ष और प्रसाद जानना चाहिए। शोभा और कान्ति अपने रूप के अनुसार निर्दिष्ट की गई है। जलों के सारमय होने से चन्द्रमा गौर वर्ण हैं। आदि ऋषियों ने अमृत को जल का विधान कहा है। मवा चन्द्रमा के समान कहा गया है। सिंहध्वजा को धर्म कहते हैं और दिशाएँ चन्द्रमा के घोड़े कहे गये हैं।

तेईसवाँ अध्याय

ग्रहों के रूपनिर्माण का विधान

मंगल को अग्निपीठ वाला, आठ घोड़ों से युक्त सुवर्ण के रथ में स्थित निर्मित करना चाहिए।

वृहस्पति[1] को तपे हुए सुवर्ण के रंग का, दो भुजाओं से समन्वित, सब आभूषणों से आभूषित तथा पीत वस्त्रधारी आठ घोड़ों से युक्त मनोहर सुवर्ण के दिव्य रथ पर करना आपेक्षित है। उनके दोनों हाथों में पुस्तक और अक्षमाला करनी चाहिए। शुक्र[2] को गौरवर्ण तथा श्वेत वस्त्रधारी बनाना उचित है। निधि और पुस्तक से युक्त उनके दो हाथ कहे गये हैं। दस घोड़ों से युक्त चाँदी के रथ पर शुक्र को शोभित करना चाहिए। शनि को कृष्णवर्ण, काले वस्त्र पहने हुए, विस्तृत नसों से युक्त, दण्ड और अक्षमाला से समन्वित, दो हाथों से शोभित आठ सर्पवाले काले लोहे के रथ पर निर्मित करना चाहिए। आठ घोड़ों से समन्वित चाँदी के रथ पर चतुर राहु को बनाना अपेक्षित है। एक भुजा से युक्त केवल मस्तक बनाना चाहिए। एक ही हाथ का तो निर्माण करना चाहिए उसका दाहिना हाथ शून्य हो। केतु का रूप भौम के समान करना चाहिए। उसके केवल दस घोड़े बनाये जायँ।

---

[1] तप्तजाम्बूनदः कार्यो द्विभुजश्च वृहस्पतिः।
पुस्तकं चाक्षमालां च करयोस्तस्य कारयेत् ॥
सर्वाभरणयुक्तश्च तथा पीताम्बरो गुरुः।
अष्टाश्वे काञ्चने दिव्ये रथे दृष्टिमनोहरे ॥
वि. ध. तृ. ख. अ. ६६ श्लो. ३-४.

[2] शुक्रः श्वेतवपुः कार्यः श्वेताम्बरधरस्तथा।
द्वौ करौ कथितौ तस्य निधिपुस्तकसंयुतौ ॥
वि. ध. तृ. ख. अ. ६६ श्लो. ५

चौबीसवाँ अध्याय

मनु के रूप का निर्माणविधान

वर्तमान मनु[1] को राजलक्षणों से समन्वित तथा भविष्य मनु को सब आभूषणों से रहित करना चाहिए। भविष्य मनु को जटाधारी, अक्षमाला तथा कमण्डल लिये हुए, दुर्बल होते हुए भी तेजसंयुक्त तथा तपस्या में लगे हुए निर्मित करना विधेय है। भविष्य में आगे होनेवाले दूसरे मनुओं को भी योगसम्पन्न करना चाहिए। उनकी मूर्त्ति का निर्माण सावर्णि मनु के समान करे। अतीत मनुओं को राजलक्षणों से समन्वित करे। रेवन्त प्रभु को घोड़े की पीठ पर सूर्य के समान करना चाहिए।

---

[1]वर्तमानो मनुः कार्यो राजलक्षणसंयुतः।
भविष्यस्तु तथा कार्यः सर्वाभरणवर्जितः॥
जटाधरोऽक्षमाली च कमण्डलुधरस्तथा।
कृशोऽपि तेजसा युक्तस्तपस्यभिरतस्तथा॥

बि. ध. तृ. खं. अ. ७० श्लो. २-३.

पचीसवाँ अध्याय

कुमारभद्रकाली चतुर्वक्त्रगजानन तथा विश्वकर्मा के रूप-निर्माण का विधान

चार मूर्त्तिवाले कुमार के रूप का वर्णन किया जाता है। कुमार, स्कन्द, विशाख और गुरु ये चार उनकी मूर्त्तियाँ हैं। कुमार को छः मुखों से समन्वित तथा रक्त वस्त्रधारी करना चाहिए। काकपक्ष उनका आभूषण हो तथा सुन्दर वाहन हो। उनके दाहिने हाथों में कुक्कुट और घण्टा, और बाएँ हाथों में पताका वैजयन्ती[1] और शक्ति करनी चाहिए। स्कन्द, विशाख और गुह कुमार के समान किये जायँ। उनको छः मुखों वाला तथा मोर पर स्थित न करना चाहिए। चार आत्मावाले सनातन भगवान् वासुदेव देवसेना के नेतृत्व करने की इच्छा से कुमाररूप से आविर्भूत हुए।

---

[1] वैजयन्ती एक प्रकार की माला है जो रत्नसमूहों से बनाई जाती है। विष्णुपुराण में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि यह विष्णु का हार है और पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु इन पाँच तत्वों से निर्मित होता है। सांसारिक दृष्टि में यह मोती, लालमणि, पन्ना, नीलम और हीरा इन पाँच-रत्नों से बनाया जाता है।

भद्रकाली[1] को अठारह भुजाओं से समन्वित, मनोहर आलीढ़ासन[2] से स्थित तथा चार सिंह के रथ पर बैठी हुई करना चाहिए। अक्षमाला, त्रिशूल, खड्ग, चर्म, धनुष, बाण, शंख, पद्म, स्रुवा, वेदी, कमण्डल, दण्ड, शक्ति, कृष्णमृगचर्म और अग्नि भद्रकाली के हाथों में करे। एक हाथ में रत्नपात्र तथा दूसरा शक्तिप्रदान करनेवाला हाथ हो।

हंस प्रजापति का वाहन हो परन्तु चार मुख न किये जायँ। ब्रह्मा के लिए कहा हुआ दूसरा सब रूप प्रजापति का हो। गणेश को हाथी के मुख तथा चार भुजाओं से युक्त करना चाहिए। उनके दाहिने हाथों में शूल और अक्षमाला और बाएँ में लड्डुओं से भरा हुआ पात्र तथा फरसा हो उनका बायाँ दाँत न करना चाहिए। एक पैर पायदान (पादपीठ) पर रक्खा हुआ आसन पर

---

[1] अष्टादशभुजा कार्या भद्रकाली मनोहरा।
आलीढस्थानसंस्थाना चतुःसिंहे रथे स्थिता॥
अक्षमाला त्रिशूलं च खड्गं चर्म च यादव।
बाणचापे च कर्त्तव्ये शंखपद्मौ तथैव च॥
स्रुक्स्रुचौ च तथा कार्यो तथा वेदीकमण्डलू।
दण्डशक्ती च कर्त्तव्ये कृष्णाजिनहुताशनौ॥
हस्तानां भद्रकाल्यास्तु भवेच्छान्तिकरः करः॥
एकश्चैव महाभाग रत्नपात्रधरो भवेत्॥

वि. ध. तृ. ख. अ. ७१ श्लो. ८-११

[2] धनुर्धारियों के पाँच आसनों में यह एक आसन है जिसमें दाहिना घुटना आगे किया जाता है तथा बायाँ पैर पीछे हटा लिया जाता है, बाराही एवं महालक्ष्मी की मूर्तियाँ इसी आसन में निर्मित देखी गई हैं।

स्थित हो तथा हाथ के आगे के भाग में लड्डुओं से भरा हुआ पात्र हो। गणेश जी की मूर्ति को लम्बे पेट तथा स्तब्ध कान वाला, व्याघ्र चर्माम्बरावृत तथा सर्प का यज्ञोपवीत पहने हुए निर्मित करना चाहिए।

विश्वकर्मा की **मूर्त्ति** का निर्माण सूर्य जैसा तेजस्वी करना चाहिए। इनके दस पाणि (हाथ) तथा दो भुजाएँ हों। समस्त विश्व की रचना करने से वह विश्वकर्मा कहा गया है। विश्वरचयिता भगवान् विष्णु विश्वकर्मा कहे जाते हैं।

छब्बीसवाँ अध्याय

वसुओं के रूपनिर्माण का विधान

प्राजापत्य रूप से धर, वैष्णव रूप से ध्रुव, चन्द्रमा रूप से सोम, वायव्य से अनिल, आग्नेय से अनल (अग्नि) और वरुण से प्रभास तथा इन्द्र से विश्वेदेव वसु की मूर्त्ति का निर्माण करना चाहिए। तिरछे ललाट के नेत्र से नागराज विवर्जित हैं। देवता तथा अङ्गिरस जीवरूप से निर्मित किये जायँ। महेश्वर से रुद्र और वैष्णव से तो साध्या कहे गये हैं। सूर्यरूप से आदित्य बारह हैं। उनकी पृथक क्रिया नव सूर्य के समान कही गई है। मरुत नाम के देवताओं को शुक्ररूप से निर्मित करना चाहिए।

---

[१]प्राजापत्येन रूपेण धरो नाम वसुर्भवेत्।
वैष्णवेन च रूपेण ध्रुवो नाम प्रकीर्त्तितः॥
सोमश्चान्द्रेण रूपेण वायव्येन तथानिलः।
आग्नेयेनानलः कार्यः प्रभासो वारुणेन च॥
विश्वेदेवास्तथा कार्याः शुक्ररूपधराः सुराः॥

वि. ध. तृ. खं. अ. ७२ श्लो. ३-५

सत्ताईसवाँ अध्याय

देवताओं की मूर्त्तियों के निर्माण का विधान

कश्यप प्रभु को प्राजापत्य रूप से करना चाहिए। अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, दनायु सिंहिका, कद्र क्रोधा, दरा, प्रधा, विनता, सुरभि खशा इन सब पूर्व माताओं को दो भुजाओं और अच्छे रूपवाली बनाना अपेक्षित है। अदिति, दिति, विनता और सुरभि इनकी दृष्टि सौम्य हो। सब देवमाताओं की मूर्त्तियों का इसी रूप से निर्माण विधेय है। कश्यप की दूसरी स्त्रियों को व्याकुल नेत्रवाली तथा ग्रह और गणों के स्वामी ध्रुव को विष्णुरूपधारी करना चाहिए। महामुनि अगस्त्य[१] को भविष्य मनु के रूप में श्रीसम्पन्न हाथ में चक्ररश्मियों सहित, दो भुजाओं तथा सुन्दर दर्शन वाला निर्मित करना समीचीन है। भृगु आदि महात्माओं का वैसा ही रूप कहा गया है। शुक्र के दोनों पुत्र और जयन्त को रूप से समन्वित करना चाहिए। यम का पुत्र बल हाथ में धनुष बाण श्रीसम्पन्न दो भुजाओं और सौम्य दर्शन वाला, चर्म शूल धारण किये हुए निर्मित किया जाना चाहिए। पुष्कर को कमल के पत्ते के समान कान्ति वाला बनावे। उसके हाथों में खड्ग और पुस्तक दोनों करना चाहिए। चन्द्रमा की पुत्री ज्योत्सना को अप्रतिभरूपसम्पन्न तथा सब आभूषणों से आभूषित करे। नलकूबर[२] को अच्छे रूपवाला हाथ में रत्नपात्र लिये हुए सर्वव्यापी

---

[१] चक्ररश्मिकर श्रीमान् द्विभुजः सौम्यदर्शनः।
भविष्यमनुरूपेण कार्योऽगस्त्यो महामुनिः॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ७३ श्लो ७

[२] सुरूपरूपः कर्त्तव्यो रत्नपात्रकरो विभुः।
द्विदंष्ट्रायुक्तवदनो धनादिर्नलकूवरः॥

तथा धनसम्पन्न बनावे उनके मुख में दो डाढ़ करनी चाहिए। बुद्धिमान् लोग मणिभद्र को कुबेर के रूप से जानते हैं। उनकी पालकी न करे बल्कि उनको स्त्रीसहित एवं उनका वाहन मनुष्य बनावे। वायु का पुत्र वायु के रूप से सम्पन्न अग्रवेगवाला किया जाय प्रभु चन्द्रमा का पुत्र अत्यन्त रूपवान तथा तेजस्वी किया जाना चाहिए क्योंकि लीला कमल उसके हाथ में है जिससे वह तेजस्वी हो जाता है। नन्दी को तीन नेत्र तथा चार बड़ी-बड़ी भुजाओं से युक्त सेंदुर के समान रक्त, व्याघ्रचर्मावृत करना चाहिए। उसके हाथों में त्रिशूल और भिन्दिपाल करे। सिर पर होनेवाले तीसरे नेत्र द्वारा दूसरे को धमकाते हुए दूर से आनेवाले मनुष्यों को प्रकाशित करते हुए करना चाहिए। बुद्धिमान् लोग इसी रूप से वीर भद्र को जानते हैं। अर्थ का रूप कुबेर के समान करे कामदेव[1] को अप्रतिभरूपसम्पन्न आठ भुजाओं तथा शंख पद्म से युक्त हाथ में धनुष बाण लिये हुए तथा मद से अञ्चित (घुमाये हुए) नेत्रोंवाला बनावे। रीति, प्रीति, शक्ति तथा उज्ज्वल मदशक्ति ये मनोहर उनकी चार पत्नियाँ की जानी चाहिए और भार्या के स्तन पर रक्खे हुए उनके चार हाथ निर्मित किये जायँ। उनकी पताका मकरांकित तथा मुख पंचबाण सहित है। कमर पर रक्खे हुए बाएँ हाथ से निद्रा का बोध कराया जाय तथा उसके दाहिने बगल में संकर्षण

[1]कामदेवस्तु कर्त्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि।
अष्टबाहुः स कर्त्तव्यः शंखपद्म विभूषणः॥
चापबाणकरश्चैव मदादंचितलोचनः।
रतिः प्रीतिस्तथा शक्तिर्मदशक्तिस्तथोज्ज्वला॥
चतस्रस्तस्य कर्त्तव्याः पत्न्यो रूपमनोहराः।
चत्वारश्च करास्तस्य कार्या भार्यास्तनोपगाः॥
केतुश्च मकरः कार्यः पंचबाणमुखो महान्॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ७३ श्लो. १६-२२

हो । बाईं ओर वासुदेव, एकादश रूद्र तथा स्वामिकार्त्तिक का निर्माण करे । सरस्वती देवी को चार भुजाओं से युक्त करना चाहिए । उनके हाथों में अक्षमाला, त्रिशूल, पुस्तक और कमण्डल बनावे । अतिभाग्यशालिनी वारुणी देवी को कलशसहित, अत्यन्त सुन्दरी, लम्बे पेटवाली, स्तन पर लाल वस्त्र धारिणी, हाथ में शूल और भुजाओं में शस्त्र लिये हुए, बड़े रथ और बहुत भुजाओं से युक्त बनाना चाहिए। सब जीवों को वश में करनेवाली वही चामुण्डा कही गई है: वैसे ही शिवदूती को आँत के समान मुखों से युक्त, निर्मम तथा विशेष रूप से दुर्बल अनेक बाहुओं से युक्त, सर्पों से परिवेष्टित, भयंकर, मुण्डों की माला तथा खट्वाङ्ग धारिणी, मंगलदायिनी, शृगाल के समान मुखवाली निर्मित करना चाहिए । आलीढ़ासनस्थित, चार भुजाओं से समन्वित, शोणितपात्र लिये हुए तथा खड्ग शूल-धारिणी और चौथा (बायाँ) हाथ आमिष युक्त करे हो। देवताओं के अनुरूप, नाभि, चिह्न एवं रूप देवियों का भी हो। जिनका रूप नहीं कहा गया है उनको भी हाथों में रक्तपात्र लिये हुई तथा आमिष युक्त हाथों से नाचती हुई भाग्यशालिनी बनावे । बाला को गजारूढ़ तथा पूर्व दिशा को लाल रंग का बनावे। हथिनी पर चढ़ी हुई वृहत्कन्या कमल की कान्ति से संयुक्त अग्निकोण में स्थित की जाय, रथ पर चढ़ी हुई पीली युवावस्था में प्राप्त दक्षिण दिशा में स्थित हो। ऊँट पर स्थित कृष्णापीत वरुणा दक्षिण पश्चिम (नैऋत्य दिशा) में यौवन से च्युत की जाय। कृष्णा पश्चिम दिशा में अश्वारूढ़ हो। आसन्न-पलितानील बड़वा पर स्थित हो । वृद्धा जिसका वाहन मनुष्य है उत्तर दिशा में हो। अतिवृद्धा बैल पर चढ़ी हुई गौर वर्ण की ईशान कोण में हो। काल को भयंकर मुख से युक्त, नित्य जानेवाला, हाथ में पाश लिए हुए सर्प बिच्छू और रोम से समन्वित
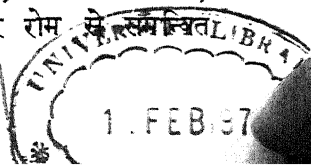
करे। ज्वर को तीन पैर, तीन नेत्र, तीन मुख तथा तीन भुजाओं से युक्त, भयंकर और व्याकुल नेत्रों तथा भस्म शस्त्रों वाला करे। धन्वन्तरि[१] को अच्छे रूप और प्रिय दर्शनवाला निर्मित करना समीचीन है। इनके दोनों हाथों में अमृतपूर्ण कलश हो। सामवेद को कुत्ते के मुख जैसा बनावे। अथवा कुशल शिल्पियों को देवरूप में ही वेदों का निर्माण करना चाहिए। ऋगवेद ब्रह्मा, यजुर्वेद इन्द्र, सामवेद विष्णु और अथर्ववेद शंभु कहे गये हैं। शिक्षा को प्रजापति, कल्प को ब्रह्मा, व्याकरण को सरस्वती निरुक्त को प्रभु वरुण, छन्द को पृथ्वी और अग्नि, ज्योतिष को भगवान् सूर्य, मीमांसा को भगवान् चन्द्रमा, न्याय को पवन, धर्मशात्र को धर्म, पुराण को मनु, इतिहास को प्रजाध्यक्ष, धनुर्वेद को भगवान् धन्वन्तरि फलवेद को पृथ्वी, नृत्यशास्त्र को महेश्वर पाञ्चरात्र को संकर्षण पाशुपत को रुद्र, पतंजलि महाभाष्य को अनन्त, सांख्य को कपिल मुनि कहा गया है। सब अर्थशास्त्र धनाध्यक्ष कुबेर तथा कलाशास्त्र कामदेव कहे गये हैं। दूसरे जो शास्त्र हैं उनके जो रचयिता कहे जाते हैं उसी शास्त्र के मूर्तिमान् देवता हैं। कालरूपी शरीर के अवयव का रूप अपने देवता के अनुरूप करना चाहिए।

---

[१] धन्वन्तरिश्च कर्त्तव्यः सुरूपः प्रियदर्शनः।
करद्वयगतं चास्य सामृतं कलशं भवेत्॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ७३ श्लो. ४१

अट्ठाईसवाँ अध्याय

लिंग रूप का निर्माण विधान

लिंग की पूजा करने से संसार की पूजा सम्पन्न सी हो जाती है। इसका आभोग (पिण्डी) गोल तथा भाग अष्टकोण करे तथा भूरि दक्षिणावाला भाग चौकोर, पिंडिका में स्थित अष्टकोण दृश्य करना चाहिए। ब्रह्मपीठ पर स्थित चौकोर करे। बुद्धिमान् लोग भद्र पीठ के नीचे ब्रह्मपीठ कहते हैं। सामने से लिंग के ऊपर से गई हुई लेखा अच्छी प्रकार गोल की जाय। वैसे ही दूसरी ऊँची और लम्बी बुद्धिगुणवाली ब्रह्मसूत्र में कही गई है।

---

[1]भोगोऽस्य वृत्तः कर्त्तव्यो भागमष्टास्रमेव तु।
चतुरस्रं तथा भाग कर्त्तव्यं भूरिदक्षिणम्॥
वृत्तं दृश्यं तु कर्त्तव्यं अष्टास्रपिण्डिकागतम्॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ७४ श्लो. २-३

उन्तीसवाँ अध्याय

नरनारायण हरि या कृष्ण की मूर्ति का निर्माण

नर[1] को दूर्वा के समान श्याम और दो भुजाओं से युक्त और नारायण को चार भुजाओं से समन्वित तथा नील कमल के पत्ते के समान कान्तिवाला करना चाहिए। उन दोनों के बीच में फलों से युक्त बदरी करे। बदरी के बाद उन दोनों को अक्ष मालाधारी बनावे ऐश्वर्य सम्पन्न, मनोहर, आठ पहियों से युक्त यान में स्थित कृष्ण मृगचर्म धारण किये हुए दान्त और जटामण्डल सहित करना चाहिए। रथ पर रक्खे हुए एक पैर से तथा जानु पर रक्खे हुए दूसरे से हरि की मूर्त्ति नर के समान तथा कृष्ण की नारायण के समान बनावे।

---

[1]दूर्वाश्यामो नरः कार्यो द्विभुजश्च महीभुज।
नारायणश्चतुर्बाहु र्नीलोत्पलदलच्छविः ॥
तयोर्मध्ये च बदरी कार्या फलविभूषणा।
बदर्यामनु तौ कार्यावक्षमालाधरावुभौ ॥

वि. ध. तृ. खं. अ. ७५ श्लो. २-३

तीसवाँ अध्याय

धर्म की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

धर्म[1] के चार मुख, चार पैर और चार भुजाएँ निर्मित करनी चाहिए। उन्हें सब आभूषणों से आभूषित, श्वेत वस्त्रावृत तथा गौरवर्ण का बनावे। उनके दाहिने हाथ में अक्षमाला और बाएँ में पुस्तक तथा दाहिने भाग में मूर्तिमान् व्यवसाय करे। बाएँ भाग में अत्यन्त रूपवान् सुख किया जाना चाहिए। उन दोनों के सिर पर धर्म को दोनों हाथ रक्खे हुए निर्मित करे। अक्षमाला काल के नाम से प्रसिद्ध है और पुस्तक आगम कहा गया है। यज्ञ, सत्य, तप और दान उसके चार मुख कहे गये हैं। देश, काल, शौच तथा शुद्धि धर्म की चार भुजाएँ कही गई हैं। श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मकल्याण उसके चार पैर हैं। सतोगुण की प्रधानता से शुक्ल और ज्ञानसम्पन्न कहा गया है। अथवा धर्म की चौदह स्त्रियाँ करनी चाहिए। कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, मति, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और तुष्टि ये चौदह स्त्रियाँ धर्म की कही गई हैं। ये सब धर्म के द्वार बतलाये गये हैं। उन सब स्त्रियों को रूपवती, दो भुजाओं से युक्त, तेज-सम्पन्न और अच्छे-अच्छे आभूषणों से आभूषित करना चाहिए। यदि धर्म एकाकी ही भार्या से युक्त हो तो इस प्रकार उपदिष्ट किया गया है।

---

[1] चतुर्वक्त्रश्चतुष्पादश्चतुर्बाहुः सितामबरः ।
सर्वाभरणवांछ्वेतो धर्मः कार्यो विजानता ॥
दक्षिणे चाक्षमालां च तस्य वामे तु पुस्तकम् ।
मूर्त्तिमान्व्यवसायस्तु कार्यो दक्षिणभागगः ॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ७७ श्लो. २-३

इकतीसवाँ अध्याय

नृसिंह की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

जिन भगवान् विष्णु ने नरसिंह का शरीर धारण किया है वे ध्यानावस्थित व्यक्तियों द्वारा ज्ञान कहे गये हैं। पीन स्कन्ध, कटि और ग्रीवा से युक्त, क्षीण मध्य और उदरवाला, सिंहासन पर मनुष्य शरीर से विराजमान, नील वस्त्र पहने हुए, आलीढ़ासन से स्थित, सब आभूषणों से आभूषित, हिरण्य-कशिपु के वक्षःस्थल को तीक्ष्ण नखों से विदीर्ण करते हुए, नीलकमल की कान्ति से समन्वित तथा देवता की जानु पर स्थित करे। उनका मुख ज्वाला समूह से भरा हुआ तथा उनके चारों ओर केसर का मण्डल बना हो। हिरण्यकशिपु दैत्य को बुद्धिमान् लोग अज्ञान कहते हैं। भगवान् संकर्षण अज्ञान के नाश करनेवाले हैं। वाणी, मन और शरीर से उत्पन्न मलों को संकर्षण देव सर्वदा नष्ट करते हैं अर्थात् देहधारियों के वाचिक, मानसिक तथा कायिक विकारों को दूर करते हैं। हरि संकर्षण के अंश से नरसिंह वपुधारी संसार के तीनों प्रकार के अन्धकार के नाशक हैं। हार्दमूर्त्ति के समान उसका संसार में दूसरा नहीं है। देव की नृसिंहमूर्त्ति सब अज्ञानों का नाशक है। सिंहासन पर भगवान् हरि को सुखासीन, गदा के मस्तक पर दोनों हाथ रक्खे हुए निर्मित करे। ज्वालासमूह से आकुल शरीर से युक्त, शंख और पद्म-धारी मूर्तिमती पृथ्वी के हाथ पर पैर रक्खे हुए, अथवा उठे हुए शंख,

चक्र, गदा, पद्म से अंकित हाथों से शोभित, अग्नि के ज्वाला-समूह से समन्वित केश से युक्त नरसिंह[1] को प्रभामण्डल से दुर्दर्श आभूषणसम्पन्न अथवा आभूषणों से रहित करना चाहिए। संसार के स्वामी, तेजोनिधान, आकाश के समान नृसिंह ज्ञान हैं।

---

[1] सिंहासने सुखासीनः कार्यो वा भगवान् हरिः।
गदामस्तकविन्यस्तकरद्वितयभूषणः ॥
ज्वालामालाकुलवपुः शंखपद्मधरः प्रभुः।
मूर्त्तिमत्पृथिवीहस्तन्यस्तपादोऽथवोत्थितः ॥
शंखचक्रगदापद्मलाञ्छनैः शोभितैः करैः।
अग्निज्वालाकुलावर्त्तविभूषिततनूरुहः ॥
नरसिंहोऽथवा कार्यः प्रभामण्डलदुर्दृशः।
सर्वाभरणसंपन्नः कार्यो भूषणवर्जितः ॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ७८ श्लो. ६-१२

बत्तीसवाँ अध्याय

वराह[1] की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

ऐश्वर्य अनिरुद्ध तथा वराह भगवान् हरि हैं जिसने ऐश्वर्य की शक्ति से दंष्ट्रा के अग्रभाग से पृथ्वी का उद्धार किया है। अथवा शेष के ऊपर स्थित नृवराह का निर्माण करे। शेष को चार भुजाओं तथा सुन्दर रत्नसम्पन्न फणों से युक्त करे। आश्चर्य से विस्फारित नेत्रों वाला तथा देवी को देखने में तत्पर किया जाय। उसके दोनों हाथों में हल और मुसल बनावे। सर्प के आभूषणों से भूषित तथा हाथ जोड़े हुए और उसकी पीठ पर आलीढ़ासन से स्थित भगवान् हों। उनके बाईं ओर अरत्नि (केहुनी) में बैठी हुई स्त्री रूप पृथ्वी को शुभ दो भुजाओं से युक्त तथा उनके नमस्कार में तत्पर करना चाहिए। जिस भुजा में पृथ्वी देवी हों उसी हाथ में शंख हो। उनके दूसरे हाथों में पद्म, चक्र, गदा किये जायँ। अथवा हिरण्याक्ष का सिर काटने के हेतु हाथ में चक्र लेकर उद्यत हुए तथा शूलसहित उद्यत हिरण्याक्ष के सम्मुख भगवान् को निर्मित करे। बुद्धिमान् लोग मूर्त्तिमान् अनैश्वर्य को हिरण्याक्ष जानते हैं। शत्रुनाशक वह ऐश्वर्य रूप वराह से निरस्त किया गया है। नृवराह को ध्यान में कपिल के समान करे अथवा दो भुजाओं से युक्त तथा

---

[1] नृवराहोऽथवा कार्यो ध्याने कपिलवत्स्थितः।
द्विभुजस्त्वथवा कार्यः पिण्डनिर्वहणोद्यतः॥
समग्रक्रोडरूपो वा बहुदानवमध्यगः।
नृवराहो वराहो वा कर्त्तव्यः क्ष्माविधारणे॥

वि. ध. तृ. खं. अ. ७९ श्लो० ९-१०

पिण्डनिर्वाह में उद्यत किया जाना चाहिए। समग्र क्रोडरूप या बहुत से दानवों के बीच में नृवराह या वराह पृथ्वी के उद्धार में संलग्न करे। अनिरुद्ध भगवान् को वराह करना चाहिए जिसने ऐश्वर्य के योग से सब लोकों का उद्धार किया है तथा जो पाप नष्ट करने में समर्थ है।

तैंतीसवाँ अध्याय

हयग्रीव की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

अश्व का सिर धारण करने वाले हयग्रीव[1] को मूर्तिमान हाथ, पैर, स्मित तथा कान्तिसम्पन्न और नील वस्त्रधारी करना चाहिए। हयग्रीव को निश्चय ही संकर्षण का अंग समझो। इन देवता को आठ भुजाओं से समन्वित करे। फिर उनके चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म और चार हाथ देहधारी वेदों के लिए करे। सब आभूषण धारण करनेवाले देवता ने (हयग्रीव भगवान् ने) सिर पर रखकर पूर्व समय में वेदों का उद्धार किया। दानवों में श्रेष्ठ मधु-कैटभ ने वेदों का अपहरण किया। सब देवताओं तथा पुरुषों में श्रेष्ठ हयग्रीव ने पाताल से वेदों का उद्धार किया।

---

[1]मूर्त्तिमत्पृथिवीपाल हस्तपादस्मितच्छविः।
नीलाम्बरधरः कार्यो देवो हयशिरोधरः॥
विद्धि सङ्कर्षणाङ्गं वै देवं हयशिरोधरम्।
कर्त्तव्योऽष्टभुजो देवस्तत्करेषु चतुर्ष्वथ॥
शंखचक्रगदापद्मान्साकारान् कारयेद् बुधः।
चत्वारश्च कराः कार्या वेदानां देहधारिणाम्॥
देवेन मूर्ध्नि विन्यस्ता सर्वाभरणधारिणा।
अश्वग्रीवेन देवेन पुरा वेदाः समुद्धृताः॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ८० श्लो० २-५

चौंतीसवाँ अध्याय

पद्मनाभ के रूपनिर्माण का विधान

सर्प के दर्शनवाला शेष[१] जल के बीच में किया जाना चाहिए जिसकी ग्रीवा फणों के समूह के बड़े-बड़े रत्नों के कारण देखने में भयंकर होती है। उसके ऊपर देवाधिदेव चतुर्भुज विष्णु को सुप्तावस्था में तथा उनका एक चरण लक्ष्मीजी की गोद में रक्खा हुआ और दूसरा शेष के फण पर रक्खा हुआ करे। उनकी एक भुजा घुटने पर फैली हुई, दूसरा हाथ नाभि में स्थित, तीसरा ग्रीवा पर तथा चौथे में सन्तान मंजरी बनावे। उनके नाभिरूपी सरोवर में दो कमल उत्पन्न हुए। (ब्रह्मा) पितामह को पूर्ववत् करे। मधुकैटभ को कमलनाल में लगा हुआ करना चाहिए। सर्प के समीप अस्त्रों को मनुष्य रूपधारी बनावे।

---

[१] जलमध्यगतः कार्यः शेषः पन्नगदर्शनः।
फणपुंजमहारत्नः दुर्निरीक्ष्यशिरोधरः॥
देवदेवस्तु कर्त्तव्यस्तत्र सुप्तश्चतुर्भुजः।
एकः पादोऽस्य कर्त्तव्यो लक्ष्म्युत्संगगतः प्रभो॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ८१ श्लोक २-३

पैंतीसवाँ अध्याय

लक्ष्मी की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

लक्ष्मी[1] को हरि के समीप दो भुजसमन्वित, दिव्यरूपा, हाथ में कमल लिए हुए, सब आभूषणों से भूषित, गौरवर्णा, श्वेत वस्त्र पहने तथा अप्रतिभ रूप सम्पन्न करे। देवी को सिंहासन पर चार भुजाओं से युक्त करना चाहिए। उनके सिंहासन पर सुन्दर बीजवाला अष्टदल कमल हो। कर्णिका में बैठी हुई गरुड़ के समान देवी का निर्माण कर। और उनके हाथ में बड़े नाल से संयुक्त सुन्दर कमल करना विधेय है। दाहिने हाथ में केयूर (बाजू) तथा बाएँ हाथ में सुन्दर अमृत का घड़ा वैसे ही अन्य दोनों हाथों को वेल और शंख से समन्वित करना अपेक्षित है। पीछे दो हाथियों द्वारा औंधाये जाते हुए घड़ों को निर्मित करे देवी के मस्तक

---

[1] हरेः समीपे कर्त्तव्या लक्ष्मीस्तु द्विभुजा नृप।
दिव्यरूपाम्बुजकरा सर्वाभरणभूषिता ॥
गौरी शुक्लाम्बरा देवी रूपेणाप्रतिमा भुवि।
पृथक्चतुर्भुजा कार्या देवीसिंहासने शुभे ॥
सिंहासनेऽस्याः कर्त्तव्यं कमलं चारुकर्णिकम्।
अष्टपत्रं महाभाग कर्णिकायां तु संस्थिता ॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ८२ श्लो० २-४

पर सुन्दर कमल बनाना चाहिए। उसे (कमल को) सौभाग्य समझो तथा शंख को ऋद्धि। बेल को सब लोक तथा जल के सार को अमृत और लक्ष्मीजी के हाथ में कमल को ऐश्वर्य समझो। शंख और पद्म दोनों निधियों को दो हाथी जानों तथा शंख और कमल-युक्त हाथ को उठा हुआ बनाना चाहिए। कमल पर समुत्थित (अन्हवाई हुई) कमल के मध्य की कान्ति से समन्वित लक्ष्मी को सभी आभूषणों से भूषित सर्वाङ्गसुन्दरी दो भुजसमन्वित करनी चाहिए। लक्ष्मीजी के सिर पर मुकुट में विराजमान दो मांगलिक विद्याधरों का निर्माण करे जो मौलिलग्न दोनों हाथो से युक्त हों एवं खड्गधारी दो हाथों से समन्वित होकर देवी को देख रहे हों। उन देवी के समीप राजश्री, स्वर्गलक्ष्मी, ब्राह्मी, लक्ष्मी और जयलक्ष्मी को बनावे। सवों को अत्यन्त सुन्दरी तथा आभूषणों से आभूषित करना चाहिए। जिस कमल में लक्ष्मी जी स्थित हैं उसे केशव जानों। मधुसूदन (विष्णु) के बिना वह लोकमाता क्षण भर भी नहीं ठहरती।

छत्तीसवाँ अध्याय

विश्वरूप की मूर्त्ति के निर्माण का विधान

आरम्भ में भगवान् की स्तुति के चार मुख उनके ऊपर माहेश्वर करना चाहिए। मुखरहित शिव का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। उनके ऊपर मुख्यरूप से ब्राह्मी (ब्रह्मा का मुख) तथा अन्य मुख करे। वैसे ही तिरछे एवं ऊपर सभी देवताओं का तथा दूसरों का करना विधेय हैं। प्राणिमात्र के अनेक रूपवाले विभाग क्रम से जो मुख है तथा चित्रसूत्र में महात्माओं द्वारा जितनी दृष्टियाँ कही गई हैं उसके सिरों पर भाग के क्रम से दिखलाई जानी चाहिए। अनेक प्रकार के जीव वैसे ही दूसरे मुखों से प्रदर्शित हों। वह सब भयंकर जीवों से असमान तथा उद्धत किया जाना चाहिए। उनके मांगलिक मुख किये जायँ। उस देवता की भुजाएँ यथाशक्ति बनावे। नृत्यशास्त्र में जिन हाथों का वर्णन किया गया है उन सबको उस देवता की भुजाओं पर करे। वैसे ही दूसरे हाथ सब शस्त्रों से युक्त करना विधेय है। कुछ हाथ में यज्ञदण्ड, कुछ में शिल्पभाण्ड, कुछ में कालभाण्ड तथा कुछ में वाद्यभाण्ड हैं। इसके अतिरिक्त विष्णु का रूप वैकुण्ठ के अनुरूप करे। वहाँ भी चित्र द्वारा उनके अंगों को प्रदर्शित करना ठीक है। अनेक रूपवाले देवताओं के भिन्न-भिन्न रूप देखे जाते हैं। इस प्रकार संसार के प्रधान समग्ररूप भगवान् को अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। पुरुषोत्तम का रूप सम्पूर्ण रीति से कहा नहीं जा सकता तो उसका मूर्त्ति निर्माण कैसे किया जा सकता है।

सैंतीसवाँ अध्याय

देवोद्यान के रूपनिर्माण का विधान

वासुदेव[1] को एक मुख, चार बाहु-समन्वित, सुन्दर रूप तथा सुन्दर दर्शनसम्पन्न, जलपूर्ण मेघ की कान्ति से युक्त, सब आभूषणों से आभूषित, शंख के समान शुभ रेखायुक्त कण्ठ से शोभायमान, उत्तम कुण्डल (धारण किये), अंगद तथा केयूर धारण किये, वनमाला पहने हुए, हृदय में कौस्तुभ मणि तथा सिर पर मुकुट धारण किये हुए करना चाहिए। उनके सिर पर सुन्दर कर्णिकायुक्त कमल, मुट्ठी से मिला हुआ दीर्घभुज समन्वित तथा लाल नखांकित अंगुलियों से युक्त शरीर करे त्रिवलीभंग से सुशोभित अत्यन्त सुन्दर कटि तथा उनके चरण के मध्य में स्त्री रूपधारिणी पृथ्वी की जाय। पृथ्वी के हाथ में भगवान् की एड़ी हो, ताल के अन्दर पैर रक्खे हुए तथा दाहिना पैर कुछ-कुछ बाहर निकला हो। देवता के दर्शन से विस्मित अन्तर्दृष्टिवाली पृथ्वी का निर्माण करे। भगवान्

---

[1] एकवक्त्रश्चतुर्बाहुः सौम्यरूपः सुदर्शनः।
सलिलाध्मातमेघाभस्सर्वाभरणभूषितः ॥
कण्ठेन शुभरेखेन कम्बुतुल्येन राजता।
अंगदी बद्धकेयूरो वनमालाविभूषणः ॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ८५ श्लो २-४

को जानु तक लटकनेवाले कटिवस्त्र तथा वनमाला से युक्त करे। नाभि तक प्राप्त यज्ञोपवीत, दाहिने हाथ में विकसित कमल, बाएँ हाथ में शंख बनावे। दाहिनी ओर गदादेवी को क्षीणकटि, सुन्दर नेत्रों सहित, स्त्री रूपधारिणी, मुग्धा, सब आभूषणों से युक्त, देवाधिदेव को देखती हुई तथा चामरधारिणी करे। देवता का दाहिना हाथ उसके मस्तक पर रक्खा हुआ हो। बाईं ओर चक्र तथा गणेश को सब आभूषणों से युक्त, नृत्य में विस्फारित नेत्रोंवाला, हाथ में चामर तथा देवता के दर्शन में तत्पर, मस्तक पर देवता का बायाँ हाथ रक्खा हुआ प्रदर्शित करे। आयुध (शस्त्र) समूह वास्तव में शस्त्र नहीं हैं। भगवान् विष्णु इन महाभूत को धारण करते हैं। बड़ी भुजाओंवाले भगवान् के हाथ में शंख को आकाश तथा सर्वव्यापी के चक्र को पवन और गदा को तेज जानना चाहिए। चरण के बीच में स्थित कमल को जल समझे, विष्णु द्वारा व्यक्त ये महाभूत शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं अतः हरि उनको धारण कर लेते हैं। विष्णु जीव कहा गया है उससे शरीर में होनेवाले सब छोड़ दिये गये हैं। देवताओं से धारण किये हुए जीवों से लोक धारण किया जाता है उन लोगों के धारण करने की शक्ति विष्णुकारिता कही जाती है। संकर्षण की मूर्त्ति का निर्माण वासुदेव के समान करे। उनका शरीर गौर तथा वस्त्र नीला ठीक है। गदा के स्थान में मुसल और चक्र के स्थान में हल तथा उन दोनों को मध्यम शरीर, मनुष्यरूप तथा रूपसम्पन्न करे। प्रद्युम्न का रूपनिर्माण वासुदेव के समान करे। उनका वर्ण दूर्वांकुर के समान श्याम तथा वस्त्र श्वेत हो। चक्र के स्थान में धनुष तथा गदा के स्थान में बाण को मुसल और हल के समान ही मनुष्य रूप में निर्मित करे। अनिरुद्ध की मूर्त्ति का निर्माण भी ऐसा ही (वासुदेव के समान) करे। उनका शरीर कमलदल की कान्ति के समान तथा

वस्त्र लाल, चक्र के स्थान में ढाल और गदा के स्थान में खड्ग करे। ढाल को चक्ररूप, प्रांशु को खड्ग तथा चक्रादिकों के स्वरूप को मस्तकों पर करे। शस्त्ररूप चक्रादि सुन्दर होते हैं। देवताओं की बाईं ओर यष्टिस्थित श्रेष्ठ ध्वजा की जाय। वासुदेव के द्वारपाल सुभद्र, वसुभद्र को पीले रंग का तथा हाथ में बर्छी लिए हुए, संकर्षण के द्वारपाल आषाढ़ और यज्ञतात को नीले रंग का अतीव भाग्यशाली तथा मुद्गरधारी और प्रद्युम्न के प्रतिहार जय और विजय को गौर वर्ण तथा खड्गधारी और अनिरुद्ध के द्वारपाल आमोद और प्रमोद को रक्तवर्ण और शक्तिधारी करना चाहिए। सब सुरूपसम्पन्न तथा सब आभूषणों से आभूषित किये जायँ। उनकी दो भुजा और तर्जनी तक उठे हुए हाथ से युक्त तथा द्वारोन्मुख दृष्टि करे। शक्र को सुभद्र, अग्नि को वसुभद्र, देव-देवेश यम को आषाढ़, यज्ञतात को अनिन्दित विरूपाक्ष, यादोगण महेश्वर वरुण की जय, पवन को विजय, कुवेर को आमोद और शिव को प्रमोद समझे। इन सबों को दिग्गज शरीरधारी करना चाहिए। देवगण आठ हैं। अणिमा, लघिमा वासुदेव के प्रतिहार महिमा और प्राप्ति संकर्षण के, प्राकाम्य और ईशित्व प्रद्युम्न के प्रतिहार कहे गये हैं। वशित्व आमोद है जहाँ काम विद्यमान है। प्रमोद सब लोक से नमस्कृत समझा जाता है। चतुर्मूर्त्ति का यह रूपनिर्माण कहा गया है। एक मूर्त्तिधारी वैकुण्ठवासी कहा गया है। पूर्वकथित मुखवाला प्रभु चतुर्मुख किया जाना चाहिए। चार मुख करने पर वह चतुर्मूर्त्ति हो जाता है। पूर्व की ओर सौम्यमुख (जिसे सबसे मुख्य कहते हैं), उत्तर को सिंहमुख, दक्षिण को ज्ञानमुख तथा पश्चिम को रौद्रमुख (जो ऐश्वर्य कहा जाता है) करना चाहिए। चतुर्मुख का दूसरा रूप जैसा कहा गया है वैसा किया जाय।

गरुड़[१] को चार भुजाओं से युक्त, बद्धाञ्जलि (हाथ जोड़े हुए), पीठ पर कमल, उनके पंखों में गदा और चक्र करना चाहिए। लक्ष्मीजी को गरुड़ासनासीन अथवा वाम गोद में स्थित तथा शेष के फण पर स्थित भगवान् को निर्मित करे। उसके फणों के कारण प्रभु का मुख दुर्निरीक्ष्य रचा गया है शेष के फण पर स्थित भगवान् का चार हाथ शून्य करे। चक्र उसके समीप गदा शरीरधारी तथा लक्ष्मी (बाईं गोद में शेष के फण पर) स्थित करना विधेय है। शेषशय्या पर भगवान् विष्णु को निर्मित करे। नृसिंह, वराह, कपिल, विश्वरूप, हयग्रीव, पद्मनाभ, ब्राह्म, रौद्र और राम का रूप महात्मा पुष्कर से कहा गया है। वामन को संकट शरीर के पर्वों से (छोटे अवयवों से युक्त) दण्डी को मोटे शरीरवाला तथा अध्ययन में तत्पर, दूर्वा के समान श्याम, और कृष्ण मृगचर्मधारी बनावे। विक्रम को जलपूर्ण मेघ के समान, दण्डपाशधारी, शंखांकित अधर से युक्त करे। शंख, चक्र, गदा और पद्म को अपने रूप के अनुकूल करे उन्हें मनुष्यधारी न करना ठीक है। शेष को पहले के समान बनाना चाहिए। देव को एक ऊर्ध्वमुख तथा विस्फारित नेत्रों वाला करना चाहिए। नर और नारायण का रूप पूर्व ही कहा जा चुका है। पहले वरुणपुत्र हरि के साथ कृष्ण का रूप तथा हंस, मत्स्य, कूर्म का रूप करना चाहिए। देवाधिदेव भगवान् विष्णु के मस्तक पर मत्स्य तथा सब आभूषणों से भूषित स्त्रीरूप से युक्त करे।

---

[१]चतुर्भुजो वा कर्त्तव्यस्तार्क्ष्यो यादवनन्दन।
गारुडश्च तथा कार्यो धर्मज्ञ रचिताञ्जलिः॥
सुखोपविष्टस्तत्पृष्ठे तत्करस्थो हि पंकजः।
उपविष्टौ गदाचक्रौ कर्त्तव्यौ तार्क्ष्यपक्षयोः॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ८५ श्लोक ४६-७

और उनके हाथ में बहुमूल्य अमृत का घड़ा तथा चक्रवर्ती के लक्षणों से सम्पन्न विशालमूर्त्ति राजा बनावे परशुराम[1] को जटामंडलों से दुर्दृश (भयंकर) तथा कृष्ण मृगचर्म धारी एवं उनके हाथ में फरसा किया जावे। दशरथ के पुत्र राम को राजलक्षणों से सम्पन्न तथा भरत, लक्ष्मण और यशस्वी शत्रुघ्न को वैसे ही (राम के समान) करना चाहिए किन्तु वे मुकुट रहित हों। वाल्मीकि को गौर वर्ण तथा जटाओं के कारण दुर्दृश कठिनता से दिखाई देनेवाले तपस्या में तत्पर, शान्त, न दुर्बल न मोटा करे। वाल्मीकि का पूरा रूप दत्तात्रेय का करे। व्यास को कृष्ण और शान्त शरीर से युक्त, पीला, बहुत सी जटाओं से युक्त करना चाहिए। जैमिनि, पैल, सुमन्तु और वैशम्पायन उनके अगल-बगल ये चार शिष्य किये जायँ। युधिष्ठिर को राज लक्षणों से सम्पन्न, भीम को दाढ़ी रहित, अत्यन्त मोटा अंग, पतली कमर एवं भेड़िये के से पेटवाला, तिरछे नेत्र, घनी भौंह तथा गदाधारी करना विधेय है। अर्जुन को दूब के समान श्याम, मुकुटधारी, लाल अंगद युक्त, धनुष बाणधारी, श्री सम्पन्न तथा सब आभूषणों से आभूषित, नकुल और सहदेव दोनों को अश्विनीकुमार के सदृश करे। हाथ में ढाल, तलवार हो औषधि नहीं। कृष्णा (द्रौपदी) को नील कमल दल की कान्ति युक्त तथा अत्यन्त सुन्दरी तथा देवकी को कमलदल के अग्रभाग के समान गौर वर्ण बनावे। यशोदा[2] भी महुए के फूल के

---

[1]कार्यस्तु भार्गवो रामो जटामण्डलदुर्दृशः।
हस्तेऽस्य परशुः कार्यः कृष्णाजिनधरस्य तु॥
वि. ध. तृ, खं. अ. ८५ श्लोक ६१

[2]मधूकपुष्पसच्छाया यशोदापि तथा भवेत्।
एकानंशापि कर्त्तव्या देवी पद्मकरा तथा॥
कटिस्थवामहस्ता सा मध्यस्था रामकृष्णयोः॥

वि. ध. तृ. खं अ ८५ श्लो० ७१

समान कान्तिवाली हो। देवी एकानंशा को हाथ में कमल लिये हुए राम और कृष्ण के मध्य में स्थित तथा कमर पर बायाँ हाथ रक्खे निर्मित करे। बलराम[१] को हाथ में हल लिए हुए, मुसल, कुण्डल धारी, श्वेत तथा नील वस्त्र से युक्त, मद से घुमाते हुए नेत्रों सहित करना चाहिए। श्रीकृष्ण[२] को चक्रधारी नील कमलदल की कान्ति से समन्वित करे। रुक्मिणी को कमल के समान हाथ से युक्त तथा श्यामा एवं गरुड़ पर स्थित, सत्यभामा[३] को अत्यन्त सुन्दरी तथा दूसरी देवियों को सुरूपा और मनोहारिणी बनाये। प्रद्युम्न को धनुषबाणधारी एवं सौम्य दर्शनवाला, अनिरुद्ध को दूर्वादल के समान श्याम तथा श्वेतवस्त्रधारी, उत्कट मद्युवत एवं खड्गचर्मधारी और साम्ब को हाथ में गदा लिये हुए तथा रूपवान् करना चाहिए। साम्ब और अनिरुद्ध को कमल की कान्तिवाला तथा लाल वस्त्रधारी, हाथ में खड्ग लिये हुए अगल-बगल स्त्रियों के वेष से युक्त करे युयुधान को आकार में लम्बा धनुषबाणधारी, नील कमल के

---

[१]सीरपाणिर्बलः कार्यो मुसली चैव कुण्डली।
श्वेतोऽतिनीलवसनो मदादञ्चितलोचनः ॥
वि. ध. तृ. खं अ ८५ ७२

[२]कृष्णश्चक्रधरः कार्यो नीलोत्पलदलच्छविः ॥
वि. ध. तृ. खं अ ८५ श्लो० ७३

[३]इन्दीवरकरा कार्या तथा श्यामा च रुपिणी।
तार्क्ष्यस्था सा च कर्त्तव्या सत्यभामासु रूपिणी ॥
अन्याश्च देवाः कर्त्तव्याः सुरूपाः सुमनोहराः।
चापबाणधरः कार्यः प्रद्युम्नश्च सुदर्शनः ॥
वि. ध. तृ. खं. अ. ८५ श्लोक ७४-५

भीतरी भाग के समान कान्ति से समन्वित, बड़ी भुजाओं एवं सुन्दर नेत्रों से युक्त करे।

देवदेव विष्णु के अवतारों को विस्तार से नहीं कहा जा सकता उनके कर्मयोगों की कल्पना बुद्धि से करनी चाहिए। बुद्धिमान को शास्त्र देखकर यथावत् उनकी मूर्त्तियों का निर्माण करना युक्तिसंगत है।

अड़तीसवाँ अध्याय

अन्य पुराणों में मूर्त्तिनिर्माण विधान

विष्णुधर्मोत्तर के अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी मूर्त्तियों के निर्माण के विधान का उल्लेख है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मत्स्य है। मत्स्यपुराण में अनेक मूर्त्तियों के निर्माण का विशद विवरण दिया गया है जिनमें कतिपय देवताओं के सम्बन्ध में ही लिखना समीचीन प्रतीत होता है यथा—रुद्र, उमामहेश्वर, ईश, ब्रह्मा, कार्त्तिकेय, विनायक, महाबराह, नृसिंह, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वरुण, कुबेर, लक्ष्मी।

रुद्र[१] को पुष्ट भुजाओं एवं पुष्ट स्कन्धोंवाला तथा तप्तकाञ्चनवर्ण का निर्मित करना चाहिए। श्वेतवर्ण, सूर्य की किरणों के समान देदीप्यमान, तथा जटा में चन्द्रमा अंकित करे। उनके सिर में जटाएँ हों तथा आकृति सोलह वर्ष की हो। दोनों

---

[१] सपीनोरुभुजस्कन्धस्तप्तकाञ्चनसप्रभः।
शुक्लोऽर्करश्मिसंघातश्चन्द्राङ्कितजटो विभुः।
जटामुकुटधारी च द्व्यष्टवर्षाकृतिश्च सः।
बाहू वारणहस्ताभौ वृत्तजंघोरुमण्डलः॥
ऊर्ध्वकेशश्च कर्त्तव्यो दीर्घायतविलोचनः।
व्याघ्रचर्मपरीधानः कटिसूत्रत्रयान्वितः॥
हारकेयूरसंपन्नो भुजगाभरणस्तथा।
बाहवश्चापि कर्त्तव्या नानाभरणभूषिताः॥

बाहु हाथी के सूँड़ की भाँति तथा जंघा एवं उरु गोल हो। केशों को ऊपर की ओर उठा हुआ, नेत्रों को दीर्घ एवं विस्तृत, कटिभाग में तीन सूत्रों से युक्त तथा व्याघ्र-चर्मधारी बनाना चाहिए। हार केयूर, सर्पों का आभूषण धारण किये हुए, तथा उनकी भुजाओं को अनेक प्रकार के आभूषणों से आभूषित, कपोल एवं उस भाग को पुष्ट और कुण्डलों से अलंकृत निर्मित करे उनकी बाहु जानु तक लम्बी हो तथा सौम्य एवं सुन्दर मूर्त्ति हो। बायें हाथ में ढाल, दाहिने में तलवार, दाहिनी ओर शक्ति, दण्ड और त्रिशूल तथा बाईं ओर कपाल, खट्वाङ्ग एवं नागों को बनाना चाहिए। शिव जी का एक हस्त वरद तथा दूसरा रुद्राक्ष की माला धारण किये हुए रहता है। नाचते हुए शिव जी की प्रतिमा दस भुजाओंवाली बनावे। उस समय गजचर्म धारी करे तथा त्रिपुरदाह के अवसर पर सोलह बाहु बनानी चाहिए। उस समय शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग घण्टा पिनाक, धनुष विष्णुमय शर ये वस्तुएँ अधिक धारण करानी चाहिए। शिवजी की चतुर्भुज तथा अष्टभुज मूर्त्ति ज्ञानयोगेश्वर मानी जाती है।

पीनोरुगण्डफलकः कुण्डलाभ्यामलंकृतः।
आजानुलम्बबाहुश्च सौम्यमूर्त्तिः सुशोभनः॥
खेटकं वामहस्ते तु खड्गं चैव तु दक्षिणे।
शक्तिं दण्डं त्रिशूलं च दक्षिणेषु निवेशयेत्॥
कपालं वामपार्श्वे तु नागं खट्वाङ्गमेव च।
एकश्च वरदो हस्तस्तथाऽक्षवलयोऽपरः।
वैशाखं स्थानकं कृत्वा नृत्याभिनयसंस्थितः॥
नत्यन्दशभुजः कार्यो गजचर्मधरस्तथा।
तथा त्रिपुरदाहे च बाहवः षोडशैव तु॥
शंखं चक्रं गदां शार्ङ्गं घण्टा तत्राधिका भवेत्।

ईश[1] (शिव) को धवल नेत्रोंवाला, श्वेत कान्ति सम्पन्न, हाथों में त्रिशूल लिये हुए, त्रिनेत्र तथा वृषभासीन निर्मित करे। अग्नि पुराण के इक्यावनवें अध्याय में ईशान को जटाधारी एवं वृषारूढ़ बतलाया गया है।

ब्रह्मा[2] को कमण्डलु लिये हुए, चतुर्मुख, कहीं पर हंसारूढ़ तथा कहीं पर कमलासीन बनाना चाहिए। उनकी प्रतिमा का रंग कमल के मध्य भाग के समान हो। चार भुजाएँ, सुन्दर नेत्र, दाहिने हाथ में स्रुवा तथा बाएँ हाथ में कमण्डलु हो। बाएँ हाथ में भी कहीं-कहीं दण्ड तथा स्रुवा देखे जाते हैं। [1]ब्रह्मा को श्वेत वस्त्र, मृगचर्म, तथा दिव्य यज्ञोपवितधारी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न, चारों ओर देव, गन्धर्व तथा मुनि गणों से स्तुति किये जाते हुए एवं तीनों लोकों की रचना में प्रवृत्त प्रदर्शित करना चाहिए। उनके पास में आज्य-स्थाली तथा चारों वेदों की मूर्त्तियाँ हों। उनके बाईं ओर सावित्री, दाहिनी ओर सरस्वती तथा चरणों के अग्रभाग के पास मुनि समूह निर्मित करे।

तथा धनुः पिनाकश्च शरो विष्णुमयस्तथा ॥
चतुर्भुजोऽष्टबाहुर्वा ज्ञानयोगेश्वरो मतः ॥

म० २५६, श्लो० ३-१२

[1]तथैवेशं प्रवक्ष्यामि धवलं धवलेक्षणम्।
त्रिशूलपाणिनं देवं त्र्यक्षं वृषगतं प्रभुम् ॥

म० २६१, २३

[2]ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्त्तव्यः स चतुर्मुखः।
हंसारूढः क्वचित्कार्यः क्वचिच्च कमलासनः ॥
वर्णतः पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः।
कमण्डलुं वामकरे स्रुवं हस्ते तु दक्षिणे ॥
वामे दण्डधरं तद्वत् स्रुवं चापि प्रदर्शयेत्।
मुनिभिर्देवगन्धर्वैः स्तूयमानं समन्ततः ॥

अग्नि पुराण के उनचासवें अध्याय में ब्रह्मा को दिव्य हंसारूढ़, चतुर्मुख एवं चतुर्भुज प्रदर्शित किया गया है। उनकी दृष्टि आकाश के चतुर्दिक हो तथा लम्बी दाढ़ी उदर तक लटक रही हो। उनके दाहिने हाथों में अक्षमाला तथा स्रुवा एवं बाएँ हाथों में कमण्डलु और आज्य स्थाली हो। सरस्वती तथा सावित्री को क्रमशः दाहिनी और बाईं ओर निर्मित करे।

[1]कार्त्तिकेय को मध्याह्न के सूर्य के समान परम तेजोमय, सुकुमार, कुमार कमल के भीतरी भाग के समान वर्णवाला, मयूरवाहन, दण्ड एवं चीर से सुशोभित निर्मित करना चाहिए। उनकी मूर्त्ति को अपने इष्ट नगर में द्वादश भुज (बारह भुजाओंवाली), तुच्छ नगर में चतुर्भुज तथा वन और साधारण ग्राम में द्विभुज निर्मित करावे। उनके दाहिनी ओर केयूर तथा कटक से विभूषित छः हाथ बनाने चाहिए जिनमें एक हाथ वरदान तथा अभयदान देनेवाला हो। शेष हाथों में शक्ति, पाश, खड्ग, शर और शूल हों।

कुर्वाणमिव लोकांस्त्रीन् शुल्काम्बरधरं विभुम।
मृगचर्मधरं चापि दिव्ययज्ञोपवीतिनम्॥
आज्यस्थालीं न्यसेत्पार्श्वे वेदांश्च चतुरः पुनः।
वामपार्श्वेऽस्य सावित्रीं दक्षिणे च सरस्वतीम्॥
अग्रे च ऋषयस्तद्वत् कार्याः पैतामहे पदे॥

म० २६०, श्लो० ४०–४५

[1]कात्तिकेयं प्रवक्ष्यामि तरुणादित्यसप्रभम्।
कमलोदरवर्णाभं कुमारं सुकुमारकम्।
दण्डकैश्चीरकैर्युक्तं मयूरवरवाहनम्॥
स्थापयेत्स्वष्टनगरे भुजान्द्वादश कारयेत्।
चतुर्भुजः खर्वटे स्याद् वने ग्रामे द्विबाहुकः॥
शक्तिः पाशस्तथा खड्गः शरः शूलं तथैव च।
वरदश्चैव हस्तः स्यादथ चाभयदो भवेत्॥

बाईं ओर के हाथों में धनुष, पताका, मुष्टि, प्रसारित तर्जनी, ढाल तथा मुर्गा बनाना चाहिए। चतुर्भुज मूर्त्ति के बाईं ओर दो हाथों में शक्ति और पाश तथा दाहिनी ओर के तीसरे हाथ में तलवार और चौथा हाथ वरदान तथा अभयदान देनेवाला बनावे। दो भुजाओं-वाली प्रतिमा के बायें हाथ में शक्ति तथा दाहिने हाथ को कुक्कुट के ऊपर रखा हुआ निर्मित करना चाहिए। कार्त्तिकेय की मूर्त्ति अग्निपुराण में वर्णित स्कन्द की मूर्त्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अग्निपुराण के पचासवें अध्याय में स्कन्द को कुमार मयूरासीन एवं दो भुजाओंवाला प्रदर्शित किया गया है। जिसके एक ओर सुमुखी तथा दूसरी ओर बिडालाक्षी की मूर्त्ति बनी हुई है। उनको एक मुख अथवा षणमुख तथा छः भुजाओं अथवा बारह भुजाओंवाला बतलाया गया है। परन्तु वन अथवा ग्राम में उनकी मूर्त्ति दो भुजाओंवाली ही बनानी चाहिए। जिसमें दाहिने हाथ में शक्ति हो तथा बाएँ में कुक्कुट। जहाँ उनकी बारह भुजाएँ हैं, उनमें दाहिने छः हाथों में क्रमशः शक्ति, बाण, पाश, खंग, तोत्र, और तर्जनी हों तथा बायें हाथों में केवल शक्ति।

[1]उमामहेश्वर की प्रतिमा द्विभुज अथवा चतुर्भुज, जटाओं के भार तथा चन्द्रमा से विभूषित बनानी चाहिए। त्रिनेत्र शिव का एक हाथ

एते दक्षिणतो ज्ञेयाः केयूरकटकोज्ज्वलाः।
धनुः पताका मुष्टिश्च तर्जनी तु प्रसारिता॥
खेटकं ताम्रचूडं च वामहस्ते तु शस्यते।
द्विभुजस्य करे शक्तिर्वामे स्यात् कुक्कुटोपरि॥
चतुर्भुजे शक्तिपाशौ वामतो दक्षिणे त्वसिः।
वरदो भयदो वापि दक्षिणः स्यात्तुरीयकः॥

म० अ० २६०, श्लो० ४६–५१

[1]मत्स्य पुराण अध्याय २६०, श्लोक ११-२०

उमा के स्कन्ध पर हो। दाहिने हाथ में कमल तथा शूल, बाएँ हाथ को उमा के स्तन पर न्यस्त निर्मित करना चाहिए। इस मूर्त्ति को मनोहर लीलाओं से युक्त, विविध रत्नों से विभूषित तथा व्याघ्र-चर्मावृत, सुप्रतिष्ठित, सुन्दर वेशों से युक्त तथा मुख भाग को अर्ध चन्द्र की भाँति मनोहर बनावे। बायें भाग में बाहुओं से निगूहित दोनों वक्ष भागवाली देवी का निर्माण करे। शिर के विविध आभूषणों से आभूषित केशों द्वारा उनका मुख अत्यन्त सुन्दर बनाना चाहिए। जिसमें बाली से युक्त कान एवं तिलक से विभूषित उज्ज्वल ललाट शोभायमान हों। कहीं-कहीं कर्णाभरण मणि जटित कुण्डलों से संयुक्त होता है। उमा हार एवं केयूर से विभूषित हों तथा शिव के मुख की ओर देख रही हों। देवादिदेव शंकर के बाएँ भाग को लीलापूर्वक स्पर्श कर रही हों तथा उनका दाहिना हाथ दाहिने भाग से बाहर की ओर निर्मित हो। अथवा किसी किसी मूर्त्ति में शिव के दाहिने कंधे पर रहता है। और अंगुलियों के नखों से कुक्षि प्रदेश में स्पर्श करता है। बाएँ हाथ में दर्पण अथवा अत्यन्त सुन्दर कमल तथा नितम्ब में लम्बे तीन कटिसूत्र (करधनी) बनावे। उनके दोनों ओर जया, विजया, स्वामि कार्त्तिक और गणेश तथा तोरण द्वार पर शिवगणों एवं यक्षों का निर्माण करे। उसी प्रकार माला, विद्याधरों एवं वीणा से सुशोभित अप्सराओं को निर्मित करना अपेक्षित है।

[1]विनायक की प्रतिमा को गजमुख, त्रिनेत्र, लम्बोदर, चतुर्बाहु, सर्पयज्ञोपवीतधारी, विस्तृतकर्ण, विशाल तुण्ड तथा एकदन्त

---

[1] विनायकं प्रवक्ष्यामि गजवक्त्रं त्रिलोचनम्।
लम्बोदरं चतुर्बाहुं व्यालयज्ञोपवीतिनम्॥
ध्वस्तकर्णं वृहत्तुण्डमेकदंष्ट्रं पृथूदरम्।
स्वदन्तं दक्षिणकरे उत्पलं चापरे तथा॥

बनाना चाहिए। उनके दाहिने हाथ में अपना दाँत, दूसरे हाथ में कमल, बाईं ओर मोदक तथा परशु निर्मित करे। बृहत् होने के कारण मुख नीचे की ओर, विस्तृत स्कन्ध, पाद एवं हाथ पुष्ट हों। वे ऋद्धि तथा सिद्धि से युक्त हों तथा नीचे की ओर मूषक निर्मित हो।

इन्द्र[1] को सहस्र नेत्रोंवाले तथा मत्तगयन्द पर विराजमान, किरीट कुण्डल, वज्र एवं उत्पलधारी, अनेक आभूषणों से आभूषित, देव, गन्धर्व तथा अप्सराओं से सेवित बनाना चाहिए। उनके वक्षस्थल, मुख तथा भुजाएँ विशाल हों, स्कन्ध सिंह के समान हों, पार्श्व में छत्रधारिणी स्त्रियों को दिखाना विधेय है।

सिंहासन पर भी आसीन इन्द्र को गन्धर्वगणों से युक्त तथा बाईं ओर कमलधारिणी इन्द्राणी को बनाना चाहिए। अग्नि[2]-पुराण के इक्यावनवें अध्याय में इन्द्र को गजारूढ़ एवं बज्रधारी प्रदर्शित किया गया है।

[3]नृसिंह की प्रतिमा को आठ भुजाओं से युक्त तथा उन्हीं के अनुरूप अति भयानक सिंहासन बनाना चाहिए। उनका मुख और आँखें फैली हुई हों। कानों तक बिखरी जटाएँ तथा हिरण्यकशिपु दैत्य को फाड़ते हुए प्रदर्शित करना चाहिए। उसके पेट से उसकी आँतें बाहर गिर गई हों, मुख से रुधिर गिर

मोदकं परशुं चैव वामतः परिकल्पयेत्।
बृहत्वात् क्षिप्तवदनं पीनस्कन्धाङ्घ्रिपाणिकम्॥
युक्तं तु ऋद्धिसिद्धिभ्यामधस्तान्मूषकान्वितम्॥
मत्स्यपुराण अ० २६०; श्लोक ५२-५५

[1] मत्स्यपुराण अध्याय २६०; श्लोक ६७--७०

[2] इन्द्रो वज्री गजारूढः अग्निपुराण अध्याय ५१ श्लोक १४

[3] मत्स्यपुराण अध्याय २६०; श्लोक ३१--३५

रहा हो, भृकुटी, बदन, एवं आँखें अति विकराल हों। कहीं-कहीं पर नृसिंह को दैत्यों से युद्ध करते हुए तथा श्रान्त दैत्य से पुनः पुनः तर्जित किये जाते हुए तथा तलवार एवं ढालधारी और देवताओं द्वारा स्तूयमान दिखाना चाहिए। अग्निपुराण[1] में नरसिंह को सिंह के सिर से युक्त, मनुष्य देहधारी एवं चतुर्भुज प्रदर्शित किया गया है जिनकी दो भुजाओं में गदा तथा चक्र हों और दूसरी दो भुजाएँ हिरण्यकशिपु की आँखें निकाल कर अपने कंधों पर रखते हुए दिखाई जाएँ। नृसिंह की जाँघ पर दानव मृतावस्था में पड़ा हो।

[2] महावराह को गदाधारी एवं हाथ में कमल लिए हुए बनाना चाहिए। उनके दाँतों के अग्रभाग अति तीक्ष्ण हों, बाईं केहुनी पर पृथ्वी स्थित हो, दंष्ट्रा के अग्रभाग पर कमलयुक्त, विस्मयोत्फुल्ल-बदना पृथ्वी को ऊपर की ओर बनावे। पृथ्वी का दाहिना हाथ कटि पर हो। कूर्म पर तथा नागेन्द्र के मस्तक पर महावराह

---

[1] चक्रशङ्खौ चतुर्बाहुर्नरसिंहश्चतुर्भुजः।
शङ्खचक्रधरो वापि विदारितमहासुरः॥
अग्निपुराण अध्याय ४६; श्लोक १७

[2] महावराहं वक्ष्यामि पद्महस्तं गदाधरम्।
तीक्ष्णदंष्टाग्रघोणास्यं मेदिनी वामकूर्परे॥
दंष्ट्राग्रेणोद्धृतां दान्तां धरणीमुत्पलान्विताम्।
विस्मयोत्फुल्लबदनामुपरिष्टात्प्रकल्पयेत्॥
दक्षिणं कटिसंस्थं तु करं तस्याः प्रकल्पयेत्।
कूर्मोपरि तथा पादमेकं नागेन्द्रमूर्धनि॥
संस्तूयमानं लोकेशैः समन्तात् परिकल्पयेत्॥
मत्स्यपुराण अ० २६०; श्लोक २८—३०

के एक एक चरण अवलम्बित हों। लोकपालगण स्तुति करते हुए चारों ओर बनाये गये हों।

[१] अग्निपुराण के अनुसार वाराह की मूर्त्ति को मनुष्यदेहधारी तथा चतुर्भुज बनाना चाहिए जिसके एक दाहिने हाथ में वासुकि हो तथा बाएँ में पृथ्वी। लक्ष्मी को उनके चरणों के पास बैठी हुई तथा पृथ्वी को दण्डवत करती हुई दिखाना चाहिए। दिव्य गरुड़ को प्रतिमा के दाहिनी ओर आठ भुजाओं से युक्त बनावे। उनके (गरुड़ के) दाहिने हाथों में चक्र, खड्ग, गदा, अंकुश तथा बाएँ में शंख, कमल, गदा और पाश करना चाहिए। बाराह भगवान् के बाईं ओर पद्महस्ता लक्ष्मी तथा हाथ में वीणाधारिणी सरस्वती को बनावे। मूर्त्ति के दाहिनी ओर चार मुखों तथा बीस भुजाओंवाले विश्वरूप का निर्माण करना चाहिए जिनके दाहिने हाथों में मुद्गर, पाश, शक्ति, शूल, कर्ण, वज्र, खड्ग, घण्टा, डमरू, सर्प और बाएँ में दिव्यशंख, कमल, गदा, पाश, तोमर, हल, कुल्हाड़ी, दण्ड, कटार और ढाल हो।

सूर्य[२] को पद्महस्त, सुन्दर नेत्रों से सुशोभित सात अश्व तथा एक चक्केवाले रथ पर विराजमान एवं विचित्र मुकुटधारी निर्मित करे। उनकी कान्ति कमल के मध्य भाग के समान हो। उनका शरीर पैर तक फैले हुए वस्त्र से आवृत हो। कहीं-कहीं चित्रों में उनकी मूर्त्ति दो वस्त्रों में ढँकी हुई दिखाई जानी चाहिए। दोनों चरण तेज युक्त हों। प्रतिमा के दोनों ओर खड्ग हस्त दण्डी और पिंगल नामक दो प्रतिहार प्रदर्शित किये जायँ। एक ओर हाथ में लेखनी लिए हुए अविनाशी धाता की मूर्त्ति हो और चारों ओर अनेक देवगण दिखाये जायँ। मत्स्य पुराण के समान अग्निपुराण

---

[१] अग्निपुराण अ० ४६; श्लोक १८—२३

[२] मत्स्यपुराण अध्याय २६१, श्लोक १-६

में भी सूर्य[1] को पद्म हस्त, सात घोड़ों से खींचे जाते हुए एक चक्के वाले रथ पर आरूढ़ बतलाया गया है। उनके दाहिनी ओर उनका अनुचर लेखनी और मणिपात्र हाथ में लिये हुए खड़ा रहता है जो स्वर्ग की पुस्तिका में मर्त्यों के पाप पुण्यों का उल्लेख करता है। उनके बाईं ओर उनका प्रतिहार पिंगल अपने स्वामी के प्रभुत्व के द्योतक गदा को हाथ में लिए हुए स्थित है। सूर्य के दोनों ओर दो दिव्य अप्सराएँ निर्मित हैं जो अपनी घनी छाया के साथ अनन्त आकाश की यात्रा में उन पर चँवर डुलाती हैं।

अग्नि[2] को तप्त सुवर्ण की कान्तिवाले, अर्धचन्द्रासनासीन, यज्ञोपवीतधारी तथा लम्बी दाढ़ी से युक्त बनाना चाहिए। उनका मुख बालसूर्य की भाँति हो, बाएँ हाथ में कमण्डलु तथा दाहिने में अक्षसूत्र दिखाया जाय। ज्वालामण्डल से युक्त उनका उज्ज्वल वाहन अज बनावे। अथवा मस्तक में सात ज्वालाओं से युक्त कुण्ड के मध्य में स्थापित करे। अग्निपुराण में अग्नि को अजासीन तथा शूलहस्त प्रदर्शित किया गया है।

यम[3] की मूर्ति को दण्डपाशधारी, महिषारूढ़, काले अंजन

---

[1]ससप्ताश्वे सैकचक्रे रथे सूर्यो द्विपद्मधृक्।
मसीभाजनलेखन्यौ विभ्रकुण्डीतुदक्षिणे ॥
वामे तु पिंगलो द्वारि दण्डभृत्स रवेर्गणः।
बालव्यजनधारिण्यौ पार्श्वे राज्ञी च निष्प्रभा ॥
अथवाश्वसमारूढः कार्य एकस्तु भास्करः।
वरदा द्वयञ्जिनः सवे दिक्पालास्त्रकरा क्रमात् ॥

अग्निपुराण अध्याय ५१ श्लोक १—४

[2]मत्स्यपुराण अध्याय २६१, श्लोक-९१२

[3]तथा यमं प्रवक्ष्यामि दण्डपाशधरं विभुम्।
महामहिषमारूढं कृष्णाञ्जनचयोपमम् ॥

समूह के समान वर्णवाले; सिंहासनासीन, प्रदीप्त अग्नि के समान विकराल नेत्रों से युक्त बनाना चाहिए। उनके चारों ओर महिष, चित्रगुप्त के विकराल अनुचर वर्ग सौम्य देवताओं तथा असौम्य दानवों का भी निर्माण करे। अग्निपुराण[1] में यम को महिषारूढ़ एवं गदाहस्त प्रदर्शित किया गया है। वरुण[2] को हाथ में पास धारण किये हुए, शंख तथा वस्त्र से भूषित, मीन के आसन पर विराजमान, शान्त मुद्रायुक्त, मुकुट एवं अंगधारी बनाना चाहिए अग्निपुराण[3] में वरुण को मकरासीन तथा त्रिशूल हस्त दिखाया गया है।

कुबेर[4] को महाकाय, महोदर, अष्टनिधियों से युक्त अनेक गुह्यकों से आवृत, कुण्डलों से अलंकृत, श्वेत वस्त्रधारी तथा हार एवं केयूर से विभूषित, गदाधारी वर देनेवाले, मुकुट से युक्त तथा नरयुक्तविमान पर विराजमान निर्मित करना चाहिए। अग्नि[5] पुराण में कुबेर को गदाहस्त एवं अजासीन चित्रित किया गया है।

सिंहासनगतं चापि दीप्ताग्निसमलोचनम्।
महिषश्चित्रगुप्तस्य करालाः किंकरास्तथा।
समन्ताद्दर्शयेत्तस्य सौम्यासौम्यान् सुरासुरान्॥

मत्स्यपुराण अ. २६१; श्लोक १२-१४

[1]अग्निपुराण अध्याय ५१; श्लोक १४

[2]वरुणं च प्रवक्ष्यामि पाशहस्तं महाबलम्।
शंखस्फटिकवर्णाभं सितहाराम्बरान्वितम्॥
झषासनगतं शान्तं किरीटाङ्गदधारणम्॥

मत्स्यपुराण अ. २६१; १७-१८

[3]अग्निपुराण अध्याय, ५१ श्लोक १५

[4] मत्स्यपुराण अध्याय २६१; श्लोक २०-२२

[5] अग्निपुराण अध्याय ५१; श्लोक १५।

लक्ष्मी[1] को नवयौवनसम्पन्ना, उन्नत कपोल, रक्त ओष्ठ, तिरछी भौहें, पीन एवं उन्नत स्तनों वाली मणिजटित कुण्डलों से आभूषित बनाना चाहिए। उनका मुख-मण्डल अत्यन्त सुन्दर तथा शिर केश विन्यास से विभूषित हो। अथवा पद्म, स्वस्तिक और शंखों से युक्त कुण्डल एवं अलकावली से सुशोभित कंचुक शरीर में धारण किये हुए तथा दोनों स्तनों पर हार की लरें शोभित हों। हाथी के सूँड़ के समान भुजाएँ केयूर तथा कटक से अलंकृत हों। बाएँ हाथ में कमल तथा दाहिने में श्रीफल देना चाहिए। उनको तप्तसुवर्ण के समान गौरवर्णवाली, अनेक प्रकार के आभूषणों से अलंकृत, सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित, पद्म के सिंहासन पर बने हुए पद्म के आसन पर विराजमान निर्मित करे। उनके पार्श्व में चामरधारिणी अन्य स्त्रियों को भी बनावे। दो हाथी सूँड़ में लिये हुए झंझरों से ऊपर से स्नान करा रहे हों तथा अन्य दो हाथी उन हाथियों पर झंझर से जल गिरा रहे हों। गन्धर्व, यक्ष, तथा लोकपालों से स्तुति की जाती हुई लक्ष्मी की प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए।

विष्णु[2] की मूर्त्ति को अष्टभुज, दिव्य पक्षी गरुड़ पर विराजमान, दाहिने हाथों में असि, गदा, बाण तथा बाएँ में धनुष, खेटक खड्ग तथा शेष दो हाथ वरद मुद्रा में बनाना चाहिए। दिव्य हयग्रीव[3] की चार भुजाओं में से एक में शंख, दूसरे में गदा, तीसरे में

---

[1] मत्स्यपुराण अध्याय २६१; श्लोक ४०–४७

[2] विष्णुरष्टभुजस्तार्क्ष्ये करे खड्ग स्तु दक्षिणे।
गदा शरश्च वरदो वामे कार्मुकखेटके॥
अग्निपुराण अध्याय ४६ श्लोक १६

[3] शंखचक्रगदावेदपाणिश्चाश्वशिरा हरिः।
वामपादो धृतः शेषे दक्षिणः कूर्मपृष्ठगः॥
अग्निपुराण अध्याय ४६ श्लोक २६

कमल तथा चौथे में वेदों को निर्मित करना चाहिए। उनका बायाँ पैर अनन्त की पीठ पर तथा दाहिना कूर्म की पीठ पर रखा हुआ हो।

राम[१] (बलराम) को साधारणतः हल, मुसल, गदा एवं कमल लिये हुए, प्रदर्शित करना चाहिए।

प्रद्युम्न[२] के दाहिने हाथों में वज्र, दिव्य शंख तथा बाएँ में धनुष, बाण अथवा प्रेम के कारण सभी चारों हाथों में केवल गदा को ही निर्मित करे। अनिरुद्ध[३] और नारायण को चतुर्भुज प्रदर्शित करना चाहिए।

सरस्वती[४] को हाथों में पुस्तक, अक्षमाला तथा वीणा धारण की हुई निर्मित करना चाहिए।

चन्द्रमा[५] को हाथों में यज्ञस्थाली एवं रुद्राक्ष, मंगल को शक्ति तथा रुद्राक्ष, बुध को एक हाथ में धनुष, दूसरे में रुद्राक्ष, वृहस्पति को यज्ञस्थाली एवं अक्षमाला, लिए हुए निर्मित करना चाहिए। शुक्र का आकार वृहस्पति के समान होना चाहिए। शनि को रश्मिजालावृत, राहु को मस्तक पर अर्धचन्द्राङ्कित, तथा केतु को मनुष्य देहधारी दीपक तथा असि लिए हुए बनाना चाहिए।

---

[१]अग्निपुराण अ० ४९ श्लोक १२

[२]अग्निपुराण अ० ४९ श्लोक १२

[३]अग्निपुराण अ० ४९ श्लोक १३

[४]अग्निपुराण अ० ५० श्लोक १६

[५]अग्निपुराण अ० ५१ श्लोक ११,१२

सहायक पुस्तकों की तालिका

१—शिलपरत्न

२—मानसार

३—प्रतिमालक्षणविधान

४—प्रतिमालक्षणम्

५—मयशास्त्रम्

६—विश्वकर्माप्रकाश

७—समरांगणसूत्रधार

८—शुक्रनीति

९—अभिलाषाहितार्थचिंतामणि

१०—श्रीतत्वनिधि

११—कुमारतंत्र

१२—देवतामूर्त्ति प्रकरण

१३—अग्निपुराण

१४—मत्स्यपुराण (आनन्दाश्रम)

१५—कूर्मपुराण

१६—मार्कण्डेय पुराण

१७—शिलपसंहिता

१८—विष्णुपुराण

१९—वायुपुराण

२०—भृगुप्रोक्त वैखानसागम

२१—नाट्य शास्त्रम्

२२—मनुस्मृति

२३—गौतम धर्मसूत्र

२४—आपस्तम्ब धर्मसूत्र

२५—मूर्त्तिकला–रायकृष्णदास

२६—The Vishnu Dharmottaram by Stella. Kramreish
२७—The Indian Shilpshastras—M. A. Ananthalwar
२८—Shilpshastras —RV.J. F.Keams
२९—History of India —K.P.Jaiswal
३०—The Hindu Temples —Stella Kramreish
३१—Elements of Hindu Iconography—T.A. Gopinath Rao
३२—History of India and Indonesian Art—A.K. Koomarswami
३३—Introduction of Indian Art—A.K.Koomarswami
३४—Indian Images—B. C. Bhattacharya
३५—Annual Reports of the Director General of Archaeology
३६—Indus Valley Civilization—Sir John Marshall
३७—Excavations at Harappa—M.S.Vats
३८—The Development of Early Hindu Iconography—A.A.Macdonell
३९—Development of Hindu Iconography—J.N. Banerjee
४०—प्रतिमाविज्ञान—Dr. Dvitjendranath Shukla
४१—Dictionary of Hindu Architecture P. K. Acharya
४२—Indus Civilization—E. Martiner Wheeler
४३—बृहत्संहिता—वराहमिहिर, खेमराज श्रीकृष्णादास

परिशिष्ट अ

बृहत्संहिता

अध्याय ५८

जालान्तरगे भानौ यदणुतरं रजो याति ।
तद्विन्द्यात् परमाणुं प्रथमं तद्धि प्रमाणानाम् ॥१॥
परमाणुरजो बालाग्रलिक्षयूकं यवोऽङ्गुलं चेति ।
अष्टगुणानि यथोत्तरमङ्गुलमेकं भवति संख्या ॥२॥
देवागारद्वारस्याष्टांशोनस्य यस्तृतीयोंऽशः ।
तत्पिण्डकाप्रमाणं प्रतिमा तद्द्विगुणपरिमाणा ॥३॥
स्वैरंगुलप्रमाणैर्द्वादशविस्तीर्णमायतं च मुखम् ।
नग्नजिता तु चतुर्दश दैर्घ्येण द्राविडं कथितम् ॥४॥
नासाललाटचिबुकग्रीवाश्चतुरंगुलास्तथा कर्णौ ।
द्वे अंगुले च हनुनी चिबुकं च द्व्यङ्गुलं विततम् ॥५॥
अष्टाङ्गुलं ललाटं विस्तारात् द्व्यङ्गुलात् परे शंखौ ।
चतुरंगुलौ तु शंखौ कर्णौ तु द्व्यङ्गुलौ पृथुलौ ॥६॥
कर्णोपान्तः कार्योऽर्धपञ्चमे भ्रूसमेन सूत्रेण ।
कर्णस्रोतः सुकुमारकं च नेत्रप्रबन्धसमम् ॥७॥
चतुरंगुलं वसिष्ठः कथयति नेत्रान्तकर्णयोर्विवरम् ।
अधरोऽङ्गुलप्रमाणस्तस्यार्धेनोत्तरोष्ठश्च ॥८॥
अर्धांगुला तु गोच्छा वक्त्रं चतुरंगुलायतं कार्यम् ।
विपुलं तु सार्धमङ्गुलमव्यात्तं त्र्यङ्गुलं व्यात्तम् ॥९॥

द्व्यङ्गुलतुल्यौ नासापुटौ च नासापुटाग्रतो ज्ञेया।
स्याद्द्व्यङ्गुलमुच्छ्रायश्चतुरंगुलमन्तरं चाक्ष्णोः ॥१०॥
द्व्यंगुलमितोऽक्षिकोशो द्विनेत्रे तत्त्रिभागिका तारा।
दृक्तारा पञ्चांशो नेत्रविकाशोऽङ्गुलं भवति ॥११॥
पर्यन्तात् पर्यन्तं दशभ्रुवोऽर्धाङ्गुलं भ्रुवोलेखा।
भ्रूमध्यं द्व्यङ्गुलकं भ्रूदैर्घ्येणाङ्गुलचतुष्कम् ॥१२॥
कार्या तु केशरेखा भ्रूबन्धसमाङ्गुलार्धं विस्तीर्णा।
नेत्रान्ते करवीरकमुपन्यसेदङ्गुलप्रमितम् ॥१३॥
द्वात्रिंशत् परिणाहाच्चतुर्दशायामतोऽङ्गुलानि शिरः।
द्वादश तु चित्रकर्माणि दृश्यन्तु विंशतिरदृश्याः ॥१४॥
आस्यं सकेशनिचयं षोडश दैर्घ्येण नग्नजित्प्रोक्तम्।
ग्रीवा दशविस्तीर्णा परिणाहाद्विंशतिः सैका ॥१५॥
कण्ठाद् द्वादश हृदयं हृदयान्नाभी च तत्प्रमाणेन।
नाभीमध्यान्मेढ्रान्तरं च तत्तुल्यमेवोक्तम् ॥१६॥
उरू चाङ्गलमानैश्चतुर्युता विंशतिस्तथा जङ्घे।
जानुकपिच्छे चतुरङ्गुले च पादौ च तत्तुल्यौ ॥१७॥
द्वादश दीर्घा षट् पृथुतया च पादौ त्रिकायताङ्गुष्ठौ।
पञ्चाङ्गुलपरिणाहौ प्रदेशिनी त्र्यङ्गुलं दीर्घा ॥१८॥
अष्टांशाष्टांशोनाः शेषाङ्गुल्यः क्रमेण कर्त्तव्याः।
स चतुर्थभागमङ्गुलमुत्सेधोऽङ्गुष्ठकस्योक्तः ॥१९॥
अंगुष्ठनखः कथितश्चतुर्थभागोनमंगुल तज्ज्ञैः।
शेषनखानामर्धाङ्गुलं क्रमात् किञ्चिदूनं वा ॥२०॥
जंघाग्रे परिणाहश्चतुर्दशोक्तस्तु विस्तरात्पञ्च।
मध्ये तु सप्तविपुला परिणाहात् त्रिगुणिताः सप्त ॥२१॥
अष्टौ तु जानुमध्ये वैपुल्यं त्र्यष्टकं तु परिणाहः।
विपुलौ चतुर्दशोरू मध्ये द्विगुणश्च तत्परिधिः ॥२२॥

कटिरष्टादश विपुला चत्वारिंशच्चतुर्युता परिधौ ।
अंगुलमेकं नाभी वेधेन तथा प्रमाणेन ॥२३॥

चत्वारिंशद् द्वियुता नाभीमध्येन मध्यपरिणाहः ।
स्तनयोः षोडश चान्तरमूर्ध्वं कक्ष्ये षडंगुलिके ॥२४॥

अष्टावंसौ द्वादश बाहू कार्यौ तथां प्रबाहू च ।
बाहू षड्विस्तीर्णौ प्रतिबाहू त्वङ्गुलचतुष्कम् ॥२५॥

षोडश बाहुमूले परिणाहाद् द्वादशाग्रहस्ते च ।
विस्तारेण करतलं षडङ्गुलं सप्त दैर्घ्येण ॥२६॥

पञ्चाङ्गुलानि मध्या प्रदेशिनी मध्यपर्वदलहीना ।
अनया तुल्या चानामिका कनिष्ठा तु पर्वोना ॥२७॥

पर्वद्वयमंगुष्ठः शेषाङ्गुल्यस्त्रिभिस्त्रिभिः कार्याः ।
नखपरिमाणं कार्यं सर्वासां पर्वणोऽर्धेन ॥२८॥

देशानुरूपभूषणवेषालङ्कारमूर्त्तिभिः कार्या ।
प्रतिमा लक्षणयुक्ता सन्निहिता वृद्धिदा भवति ॥२९॥

दशरथतनयो रामो बलिश्च वैरोचनिः शतं विंशम् ।
द्वादशहान्याशेषा प्रवर समन्यून परिमाणाः ॥३०॥

कार्योऽष्टभुजो भगवांश्चतुर्भुजो द्विभुजएव वा विष्णुः ।
श्रीवत्साङ्कितवक्षाः कौस्तुभमणिभूषितोरस्कः ॥३१॥

अतसीकुसुमश्यामः पीताम्बरनिवसनः प्रसन्नमुखः ।
कुण्डलकिरीटधारी पीनगलोरःस्थलांसभुजः ॥३२॥

खड्गगदाशरपाणिर्दक्षिणतः शान्तिदश्चतुर्थकरः ।
वामकरेषु च कार्मुकखेटकचक्राणि शंखश्च ॥३३॥

अथ च चतुर्भुजमिच्छति शान्तिदएकोगदाधरश्चान्यः ।
दक्षिणपार्श्वे त्वेवं वामे शंखश्च चक्रं च ॥३४॥

द्विभुजस्य तु शान्तिकरो दक्षिणहस्तोऽपरश्च शंखधरः ।
एवं विष्णोः प्रतिमा कर्त्तव्या भूतिमिच्छद्भिः ॥३५॥

वलदेवो हलपाणिर्मदविभ्रमलोचनश्च कर्त्तव्यः ।
विभ्रत्कुण्डलमेकं शंखेन्दु मृणालगौरतनुः ॥३६॥

एकानंशा कार्या देवी बलदेव कृष्णयोर्मध्ये ।
कटिसंस्थित वामकरा सरोजमितरेण चोद्वहती ॥३७॥
कार्या चतुर्भुजा या वामकराभ्यां सपुस्तकं कमलम् ।
द्वाभ्यां दक्षिणपार्श्वे वरमर्थिष्वक्षसूत्रं च ॥३८॥
वामेऽथवाष्टभुजायाः कमण्डलुश्चापमम्बुज शस्त्रम् ।
वरदशरदर्पणयुक्ताः सव्यभुजाः साक्षसूत्राश्च ॥३६॥
शाम्बश्च गदाहस्तः प्रद्युम्नश्चापभृत् सुरूपश्च ।
अनयोः स्त्रियौ च कार्ये खेटकनिस्त्रिंशधारिण्यौ ॥४०॥
ब्रह्मा कमण्डलुकरश्चतुर्मुखः पङ्कजासनस्थश्च ।
स्कन्दः कुमाररूपः शक्तिधरो बर्हिकेतुश्च ॥४१॥
शुक्लश्चतुर्विषाणो द्विपो महेन्द्रस्य वज्रपाणित्वम् ।
तिर्यगललाटसंस्थं तृतीयमपि लोचनं चिह्नम् ॥४२॥
शंभोः शिरसींदुकलाः वृषभध्वजोऽक्षिचतृतीपमपि चोर्ध्वम् ।
शूलं धनुः पिनाकं वामार्ध्वे वा गिरिसुतार्धम् ॥४३॥
पद्माङ्कितकरचरणः प्रसन्नमूर्तिः सुनीच केशश्च ।
पद्मासनोपविष्टः पितेव जगतो भवति बुद्धः ॥४४॥
आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्त्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥४५॥
नासाललाटजंघोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः ।
कुर्यादुदीच्यवेषं गूढं पादादुरो यावत् ॥४६॥
बिभ्राणः स्वकररुहे बाहुभ्यां पङ्कजे मुकुटधारी ।
कुण्डलभूषितवदनः प्रलम्बहारी वियद्गवृतः ॥४७॥
कमलोदरद्युतिमुखः कंचुकगुप्तः स्मितप्रसन्नमुखः ।
रत्नोज्ज्वलप्रभामण्डलश्च कर्त्तुः शुभकरोऽर्कः ॥४८॥

सौम्या तु हस्तमात्रा वसुदा हस्तद्वयोच्छ्रिताप्रतिमा ।
क्षेमसुभिक्षाय भवेत् त्रिचतुर्हस्तप्रमाणा या ।।४६।।
नृपभयमत्यङ्गायां हीनाङ्गायामकल्यता कर्त्तुः ।
शातोदर्यां क्षुद्भयमर्थविनाशः कृशाङ्गायाम् ।।५०।।
मरणं तु सक्षतायां शस्त्रनिपातेन निर्दिशेत् कर्त्तुः ।
वामावनतां पत्नीं दक्षिणावनता हिनस्त्यायुः ।।५१।।
अन्धत्वमूर्ध्वदृष्ट्या करोति चिन्तामधोमुखीदृष्टिः ।
सर्वप्रतिमास्वेवं शुभाशुभं भास्करोक्तसमम् ।।५२।।
लिङ्गस्य वृत्तपरिधिं दैर्घ्येणासूत्र्य तत् त्रिधा विभजेत् ।
मूले तच्चतुरस्रं मध्ये त्वष्टाश्रि वृत्तमतः ।।५३।।
चतुरस्रमवनिखाते कार्यं तु पिण्डिकाश्वभ्रे ।
दृश्योच्छ्रायेण समा समान्ततः पिण्डिकाश्वभ्रात् ।।५४।।
कृशदीर्घं देशघ्नं पार्श्वविहीनं पुरस्य नाशाय ।
यस्य क्षतं भवेन्मस्तके विनाशाय तल्लिङ्गम् ।।५५।।
मातृगणः कर्त्तव्यः स्वनामदेवानुरूपकृतचिह्नः ।
रेवन्तोऽश्वारूढो मृगयाक्रीडादिपरिवारः ।।५६।।
दण्डी यमो महिषगोहं सारूढश्च पाशभृद्वरुणः ।
नरवाहनः कुवेरो वामकिरीटी बृहत् कुक्षिः ।।५७।।
प्रमथाधिपो[१] गजमुखः प्रलम्बजठरः कुठारधारी स्यात् ।
एकविषाणो विभ्रन्मूलककन्दं सुनीलदलकन्दम् ।।५८।।

बृहत्संहिता के अध्याय ५८ के श्लोकों का अनुवाद

सूर्य के रश्मिजाल में झँझरी से छनता हुआ दिखाई पड़ने-वाला रज या धूल या अणु परमाणु के नाम से जाना गया है और यह सभी मापों में प्रथम या सूक्ष्मतम है ।।१।। एक रज (धूलकण

[१] यह श्लोक खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई द्वारा प्रकाशित प्रति में पाया जाता है ।

इस प्रकार के आठ परमाणुओं से बनता है, एक वालाग्र एक लिक्ष (जुएँ का अण्डा या लीख) एक मूक (जुआ) एक यव (जवे का दाना) और एक अंगुल, प्रत्येक एक दूसरे के अठगुनें होते हैं, एक वालाग्र रज के आठ कण के बराबर होता है ।।२।। मूर्त्ति की आधार पीठिका मन्दिर के द्वार के तिहाई भाग की ऊँचाई की और कम से कम आठवें भाग की उँचाई की होनी चाहिए। जब बाद वाला आठ भागों में विभक्त किया जाय, तब मूर्त्ति की ऊँचाई पीठिका से दुगुनी होनी चाहिए ।।३।। मुख (मूर्त्तिका) अपने अंगुल के अनुसार बारह अंगुल लम्बा चौड़ा (आयताकार) होना चाहिए परन्तु नग्नजित् के अनुसार यह मुख चौदह अंगुल लम्बा होना चाहिए यह माप 'द्राविड़' शैली की माप है ।।४।। प्रतिमा के नासिका, ललाट, (मस्तक) चिबुक (ठुड्डी), ग्रीवा, गर्दन तथा कर्ण (कान) चार अंगुल के (लम्बाई में) जबड़े दो अंगुल के (चौड़ाई में) और ठुड्डी दो अंगुल चौड़ी होनी चाहिए ।।५।। मत्था आठ अंगुल चौड़ा हो, प्रत्येक ओर दो दो अंगुल आगे शङ्ख (मत्थे के पास का स्थल) (नीचे की ओर) उनकी लम्बाई चार अंगुल हो। कर्ण दो अंगुल चौड़े होने चाहिए ।।६।। कर्ण का ऊपरी किनारा भौंहों की सीध में होना चाहिए, वह (कर्ण) उससे (भौंहें से) साढ़े चार अंगुल की दूरी पर हो। कर्ण-छिद्र और उसके निकट का उन्नत (उठा हुआ) भाग भी उसी सीध में आँख की कोर के साथ होना चाहिए ।।७।। वसिष्ठ का कथन है कि नेत्र के कोर के अन्तिम सिरे और कर्ण-छिद्र के मध्य में चार अंगुल (स्थान) हो। अधर एक अंगुल चौड़ा और ऊपरी ओष्ठ उसका आधा हो ।।८।। गोच्छा (नासिका और ऊपरी ओष्ठ के मध्य से बीच का भाग) आधा अंगुल होना चाहिए, मुख लम्बाई में चार अंगुल हो। (जब अधर बन्द हो तब इसकी) चौड़ाई डेढ़ अंगुल हो, और खुलने पर ३ अंगुल चौड़ा हो ।।९।। नासापुट (नासिका छिद्र) दो अङ्गुल विस्तृत और नासिका

दो अंगुल उन्नत हो (और) दोनों आँखों के मध्य का भाग चार, अङ्गुल हो ॥१०॥ अक्षिकोश (नेत्र का डेला) और नेत्र दो अंगुल के बराबर हो, उसकी तिहाई नेत्र तारा या पुतली हो। नयन तारा पाँचवाँ भाग दो और नेत्र-विकाश (आँख का खुलना) एक अंगुल हो ॥११॥ भ्रुवलेखा (भौंहें एक सिरे से दूसरे सिरे तक) नाद में १० अंगुल हो, उसकी चौड़ाई आधा अंगुल हो (भ्रुमध्य) दो अंगुल के तथा प्रत्येक भौंहें चार अंगुल लम्बी हों ॥१२॥ केश रेखा (मस्तक का वह भाग जहाँ से केश उगने प्रारम्भ होते हैं) भ्रूबन्ध के सदृश (अर्थात् १० अंगुल लम्बी) तथा अर्ध अंगुल चौड़ा बनाना चाहिए और नेत्र की कोर पर कारवीरक (नेत्र का-आन्तरिक छोर) १ अंगुल नाप का ॥१३॥ सिर ३२ अंगुल की गोलाई और १४ अंगुल विस्तार में हो (चौड़ाई) जो चित्र बनाया जाय तो उसमें शिर बारह अंगुल दिखलाई पड़ता है और २० अंगुल जो पिछली ओर रहते हैं वह दिखलाई नहीं पड़ते ॥१४॥ नग्नजित् ने कहा है कि केशों से ढका हुआ १६ मुख अंगुल लम्बा हो। ग्रीवा १० अंगुल चौड़ी और २१ अंगुल के घेरे में हो ॥१५॥ कण्ठ से हृदय १२ अंगुल, मध्य से नाभि (नीचे की ओर) उसी प्रमाण (नाप) की हो और नाभि से जननेन्द्रिय तक भी वही नाप होना चाहिए ॥१६॥ उरु और जङ्घा २४ अंगुल लम्बे, गोड़ों के ऊपर की पालीं चार अंगुल और पाद भी चार अँगुल करे। अंगूठे ३ अंगुल लम्बे और ५ अंगुल के घेरे के हों ॥१७॥ पैरों की लम्बाई १२ अंगुल और चौड़ाई ६ अंगुल हो। प्रदेशिनी (दूसरी अंगुली) ३ अंगुल लम्बी हों ॥१८॥ शेष अंगुलियाँ क्रम से अष्टांश हिस्सा कम बनाना चाहिए। अँगूठे की ऊँचाई शेष अंगुलियों से सवा अंगुल कही गई है ॥१९॥ अंगुष्ट का नाखून $\frac{3}{4}$ अंगुल, अन्य अंगुलियों के नख क्रमशः $\frac{1}{2}$ अंगुल हों या इससे कुछ कम ॥२०॥ जंघा के अग्र भाग की परिधि १४ अंगुल तथा चौड़ाई

५ अंगुल कही गई है। मध्य में यह ७ अंगुल चौड़ा।७ का तीन गुना परिधि में २१ अंगुल हो ॥२१॥ जानु घुटने का मध्य भाग ८ अंगुल परिधि ८ का त्रिगुण २४ हो और उस मध्य में १४ (अंगुल) चौड़ा तथा उसका द्विगुण (२८) उसकी परिधि हो ॥२२॥ कटि का विस्तार (कमर) १८ अंगुल और उसकी परिधि ४४ अंगुल हो। नाभि १ अंगुल गहरी और उतनी ही विस्तीर्ण ॥२३॥ नाभि को बीच में लेकर मध्य भाग (शरीर) की परिधि ४२ अंगुल हो। स्तन-युगल का मध्य भाग १६ अंगुल तथा कुक्षि से (भुजा सन्धि स्थान का गड्ढा) ६ अंगुल उन्नत हो ॥२४॥ स्कन्ध की लम्बाई ८ अंगुल बाहु तथा प्रबाहू (कुइनी) १२ अंगुल लम्बा हो। बाहु विस्तार भुजा ६ अंगुल चौड़ी तथा निचली भुजा ४ अंगुल, बनानी चाहिये ॥२५॥ ऊपरी सिरे पर भुजा का घेरा १६ अंगुल वही (परिधि) कलाई (अग्रहस्त) को 'उत्पल' ने प्रकोष्ठ प्रवेश लिखा है) पर १२ अंगुल हो, करतल ६ अंगुल चौड़ा और ७ अंगुल लम्बा हो ॥२६॥ मध्यम अंगुलि ५ अंगुल (लम्बी) प्रदेशिनी (दूसरी अंगुलि) उससे एक पर्व छोटी हो ॥२७॥ दो पर्वों वाला (पोढ़ों) अंगुष्ठ तथा शेष अंगुलियों को तीन तीन पर्वों वाला बनाना चाहिए और नख प्रत्येक अंगुलि के अर्ध पर्व के प्रमाण का (बनाना चाहिए) ॥२८॥ मूर्ति देशानुरूप भूषण वेष अलङ्कार से युक्त बनानी चाहिए। (इस प्रकार) प्रतिमा लक्षणों से युक्त मूर्ति वृद्धि (वैभव) देने वाली होती हो ॥२६॥ दशरथ पुत्र राम और विरोचन पुत्र बलि १२० (अंगुल की मूर्त्ति) तथा प्रवर, सम और न्यून परिमाण वाले अन्य शेष क्रमानुसार एक दूसरे से १२ अंगुल कम हो (अर्थात् प्रवर, सम और न्यून क्रमशः १०८, ६६ और ८४ अंगुल की नाप के हो) ॥३०॥ भगवान (पूज्य) विष्णु को या तो अष्टभुज या चतुर्भुज या द्विभुज बनाना चाहिए। उनका

वक्ष 'श्री वसु' चिह्न से चिह्नित हो तथा कौस्तुभमणि से भूषित ॥३१॥ (वे) अतसी पुष्प के सदृश श्याम वर्ण, पीताम्बर धारी, प्रसन्न मुख, कुण्डल और मुकुटधारी हैं। उनकी ग्रीवा, वक्ष, स्कन्ध और भुजायें मांसल हैं। ॥३२॥ अष्ठभुजी मूर्ति के दाहिने तीन हाथ में खड्ग, गदा, शर से युक्त तथा चौथी भुजा शान्तिदायिनीं हो और वायीं भुजाओं में धनुष, खेटक, चक्र और शङ्ख हो ॥३३॥ और जो चतुर्भुज (मूर्त्ति) की इच्छा करता है (बनाना चाहता है) उसे दक्षिण पाणियों में एक में अभय मुद्रा और दूसरे में गदा तथा वाम भुजाओं में चक्र और शङ्ख बनाना चाहिए ॥३४॥ दो भुजी (विष्णु) मूर्त्ति का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में हो, वाएँ हाथ में शङ्ख हो। ऐश्वर्य चाहनेवाले को इस प्रकार की विष्णु प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए ॥३५॥ बलदेव को हल धारण किये हुये तथा मदोन्मत्त नेत्रों से युक्त, चित्रित कुण्डल से भूषित तथा शङ्ख शशि और मृणाल के सदृश गौर वर्ण (बनाना चाहिए) ॥३६॥ बलदेव और कृष्ण दोनों के मध्य में एकानंशा देवी की स्थापना करनी चाहिए। जिसका बामकर कटि पर रखा हो और दूसरे में कमल धारण किये हुये हो ॥३७॥ चतुर्भुजी (देवी) बनाने में वाम करों में पुस्तक और कमल तथा दोनों दाहिने हाथों में एक में वरद मुद्रा और दूसरे में अक्षमाला बनाना चाहिए ॥३८॥ तथा अष्टभुजी बनाने में बाईं भुजाओं में कमण्डल, धनुष, कमल और शस्त्र तथा दक्षिण भुजाओं में एक वरद मुद्रा में हो शेष हाथों में शर, दर्पण और अक्षमाला निर्मित करे ॥३९॥

शाम्ब गदाधारी और रूपवान प्रद्युम्न चाप धारण किये हुए तथा दोनों की पत्नियाँ खेटक और निस्त्रिंश लिये हुए बनाई जायँ। ॥४०॥ ब्रह्मा को पाणि में कमण्डल लिये हुये चतुर्मुख तथा कमलासन पर आसीन, स्कन्द को किशोर, शक्तिधारी तथा मयूर की

पताका से युक्त निर्मित करे ।।४१।। इन्द्र चार श्वेत विषाणों (दातों) वाले कुञ्जर से युक्त तथा वज्रपाणि हो और तिर्यक ललाट पर तृतीय नेत्र चिह्न से चिह्नित हो ।।४२।। शम्भू के सिर पर अर्धचन्द्र हो, नान्दी ध्वजवाले और उनके (मस्तक पर) तृतीय नेत्र तिरछा हो, त्रिशूल और पिनाक नामक धनुष लिये हुये तथा वामार्ध में पार्वती का अर्ध भाग निर्मित करें (अर्थात् अर्ध नारीश्वर शिव) ।।४३।। कमल से चिह्नित कर पदवाले प्रसन्नता की मूर्त्ति छोटे केश युक्त पद्मासनस्थ संसार के पिता के तुल्य बुद्ध की मूर्त्ति निर्मित करे ।।४४।। आजानु बाहु, श्रीवत्स चिह्नाङ्कित शान्ति की मूर्त्ति, दिगम्बर, तरुण और रूपवान् अर्हत् (जैन महात्मा) को स्थापित करे ।।४५।। रवि की नासिका, ललाट, जङ्घा, उरू, गण्डस्थल और वक्ष को उभार कर चित्रित करे तथा पैर से वक्ष तक उत्तरीय से आवृत हो। मुकुट धारण किये हुए दो कमल डण्ठल हाथ में लिए हो, मुख कर्ण आभूषण से सुशोभित हों तथा लम्बा हार, और कटि के चारों ओर मेखला धारण किये हुए हो सूर्य देव कमल के ऊपरी भाग के सदृश गौर वर्ण, कंचुक धारण किये हुये और मुस्कराहट के कारण प्रसन्न मुखवाले तथा उज्ज्वल रत्न के सदृश ज्योति प्रसारित करते हुये कलाकार के लिए शुभकर हो ।।४६-४८।। प्रतिमा (सूय की) एक हाथ की शुभकर दो हाथ की धनदात्री, तीन और चार हाथ के प्रमाण वाली क्रमशः क्षेम (शान्ति) और मुक्तिदायिनी होती है ।।४९।। मूर्त्ति अधिक अंग वाली होने पर कर्त्ता को नृप भय, हीनाङ्गी में रोग (अकल्पता) तथा शातोदरी और कृश होने पर उसको क्रमशः अकाल और धनहानि से कष्ट देती हैं ।।५०।।

अंगभंग मूर्ति शस्त्र प्रहार से कर्त्ता का मरण निर्दिष्ट करती है। और बायीं ओर झुकी होने से कर्त्ता की पत्नी का हनन और दाहिनी ओर झुकी होने पर आयु क्षीण करती है ।।५१।। उर्ध्व दृष्टि बनाने से अन्धापन तथा अधोमुखी दृष्टि से चिन्ता प्रदान

करती है। इस प्रकार सूर्य की सर्वप्रतिमाओं में शुभ और अशुभ लक्षण कहे गये हैं। यही दूसरों पर भी घटित होते हैं ॥५२॥ (शिव) लिंग के वृत्त की परिधि लंबाई के अनुपात से नापे, इसे तीनों भागों में विभक्त करे। उसका मूल भाग (लिंग का) चौकोर, मध्य भाग अष्टभुज तथा शेष सीधी वृत बनाये ॥५३॥ चौकोर भाग (मूल भाग) पृथ्वी में भीतर रहे, मध्य भाग पीठिका के गड्ढे में रहे तथा दृश्य भाग पीठिका छिद्र से चोटी तक सम निर्मित करे ॥५४॥ कृश और दीर्घ लिंग देश नाशक और पार्श्व विहीन नगर के नाश का कारण होता है। मस्तक में छिद्र होने से वह लिंग कर्त्ता के विनाश का कारण होता है ॥५५॥ मातृ देवियों को उनके देवों के नाम के अनुरूप चिह्न से चिह्नित करना चाहिए। रेवन्त को अश्व पर आरूढ़ सहायकों के साथ आखेट करते हुए प्रदर्शित करे ॥५६॥ यम को दण्डधारी और भैंसे पर सवार तथा वरुण को हंसारूढ़ और पाश लिए हुये बनाये और कुबेर को मनुष्य पर सवार वाम किरीटी तथा विस्तृत कुक्षि वाले निर्मित करे ॥५७॥ प्रमथों के नरेश (गणेश) को गजमुख वाले, लम्बोदर कुठारधारी (फरसा) एकदन्त मूलकन्द तथा नील दल कन्द धारण किये हुये निर्मित करे ॥५८॥

परिशिष्ट ब

प्रतिमा-माननिरूपण

इस परिशिष्ट में मत्स्यपुराण समराङ्गण तथा वृहत्संहिता के आधार पर प्रतिमा के सभी अवयवों के मान का निरूपण किया गया है। देवता के अंग-प्रत्यङ्ग का क्या मान होना चाहिए इसका विवेचन किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि इन ग्रन्थों में विहित प्रतिमा के परिमाण में बहुत कुछ साम्य है भेद बहुत कम है। सर्वप्रथम मत्स्यपुराण में वर्णित मान का उल्लेख किया जाता है।

मत्स्यपुराण अध्याय २५८ के अनुसार देवता, दानव एवं किन्नरों को नवताल के प्रमाण का निर्मित करना चाहिए। अपनी अंगुल के मान से मुख का मान बारह अंगुल होना अपेक्षित हैं। मुखमान के अनुकूल ही सब अंग-प्रत्यंग के परिमाण की कल्पना करना विधेय है।

प्रतिमा के मुख के मान को नव भागों में इस प्रकार विभक्त करे। चार अंगुल में ग्रीवा तथा एक भाग में हृदय हो। उसके नीचे के एक भाग में सुन्दर नाभि हो। उसकी गहराई तथा विस्तार भी १ ही अंगुल का कहा गया है। नाभि के नीचे एक भाग में लिंग, दो भागों में जाँघों का विस्तार हो। घुटनों को चार अंगुल में बनावे, जाँघे दो भागों में हों, पैर चार अंगुल के हों। उसी प्रकार ऐसी मूर्त्ति का शिर १४ अंगुल का निर्मित करना चाहिए। इस

प्रकार प्रतिमा की ऊँचाई बताई गई है। आगे मूर्त्तियों के सभी अवयवों का विस्तार बतलाया जाता है।

ललाट का विस्तार	८ अंगुल
ललाट की मोटाई	४ अंगुल
नासिका की ऊँचाई	४ अंगुल
दाढ़ी	२ अंगुल
ओठ	२ अंगुल
दोनों भौहों का विस्तार	८ अंगुल
भौहों की रेखा (धनुषाकार वक्र)	½ अंगुल
आँखों की लम्बाई	२ अंगुल
" " चौड़ाई	१ अंगुल
दोनों भौहों का अन्तर	२ अंगुल
नासिका का मूलभाग	१ अंगुल
नासिका छिद्र	½ अंगुल
कपोल	२ अंगुल
दाढ़ी का अग्रभाग	१ अंगुल
" " विस्तार	२ अंगुल
कानों की ऊँचाई	४ अंगुल
दोनों कानों के ऊपर मस्तक का विस्तार	१२ अंगुल
ललाट से पीछे आधे भाग का विस्तार	१८ अंगुल
सारे मस्तक का विस्तार	३६ अंगुल
केशसमेत मस्तक का विस्तार	४२ अंगुल
केशों के अन्त प्रदेश से दाढ़ी तक का विस्तार	१६ अंगुल
दोनों कन्धों का विस्तार	२४ अंगुल
ग्रीवा की मोटाई	८ अंगुल
स्तन और ग्रीवा का अन्तर	१ ताल
दोनों स्तनों का अन्तर	१२ अंगुल

स्तनमण्डल	२ अंगुल
चूचुक	२ यव
वक्षःस्थल की चौड़ाई	२ ताल
कक्षप्रदेश	६ अंगुल
पैर दोनों	१४ अंगुल
पैर के अंगूठे	२ या ३ अंगुल
अंगूठे का विस्तार	५ अंगुल
अंगूठे के समान प्रदेशिनी अँगुली	५ अंगुल
मध्यमा	१ $\frac{१}{६}$ कम पाँच अंगुल
अनामिका	मध्यमा $\frac{१}{२}$
कनिष्ठा	अनामिका से $\frac{१}{२}$ कम
पैरों की गाँठ	२ अंगुल
एड़ी	२ अंगुली
अँगूठे की मोटाई	१ अंगुल
शेष अँगुलियों की मोटाई	$\frac{१}{२}$ अंगुल
जंघाग्रभाग	१४ अंगुल
मध्य भाग परिणाह	१८ अंगुल
जानमध्य भाग का विस्तार	२१ अंगुल
जानुभाग की ऊँचाई	१ अंगुल
जानुमण्डल	३ अंगुल
उस के मध्यभाग का विस्तार	२८ अंगुल
उसके ऊपर भाग का विस्तार	३१ अंगुल
अंडकोष	३ अंगुल
लिंग	२ अंगुल
लिंग का विस्तार	६ अंगुल
मणिबन्ध का विस्तार	४ अंगुल

कटिप्रदेश का विस्तार	१८ अंगुल
स्त्रियों की कटि का विस्तार	२२ अंगुल
स्तन का विस्तार	१२ अंगुल
नाभिमध्य भाग का परिणाह	४२ अंगुल
भुजा की लम्बाई	१६ अंगुल
वाहु का मूलभाग	१६ अंगुल
वाहु का ऊपरी भाग	१२ अंगुल
वाहु का मध्यभाग	१८ अंगुल
प्रबाहु	१६ अंगुल
हथेली का विस्तार	७ अंगुल
हाथ का अग्रभाग	६ कला
अँगूठे का विस्तार	४ अंगुल
अनामिका मध्यमा का	१/६ भाग कम
कनिष्ठा अनायिका से	१/६ भाग कम
तर्जनी मध्यमा से	१/६ भाग कम
अँगूठे का विस्तार	४ अंगुल
शेष अँगुलियों का विस्तार क्रमशः	१ एक एक भाग कम
मध्यमा पैरों के मध्यभाग का अन्तर	२ अंगुल
अन्य अंगुलियों के पोरों में	१ यव कम
अँगूठे के पोर का मध्य भाग तर्जनी के समान अगला पोर	२ यव से अधिक
कन्धों के ऊपर केशलता का विस्तार	१० अंगुल
उदर प्रदेश (स्त्री) की लम्बाई	१४ अंगुल

स्त्री प्रतिमाओं को कृशांगिनी बनावे। स्तन, उरु प्रदेश एव जांघें स्थूल हों। मूर्त्ति को सर्वाभरणाविभूषित तथा उसकी भुजाओं को कुछ मृदु एवं चित्ताकर्षक निर्मित करे। मुखाकृति कुछ लम्वी हो। अलकावली उनकी नासिका, ग्रीक एवं ललाट साढ़े तीन अंगुल

के हों। अधरपल्लवों का विस्तार ½ अंगुल का प्रशस्त माना गया है। दोनों नेत्र अधरपल्लवों से चार गुने अधिक विस्तृत हों। ग्रीवा की वलि ⅛ अंगुल ऊँची हो।

समराङ्गण में जो प्रतिमा का मान दिया हुआ है वह मत्स्य पुराण के प्रतिमामान से बहुत कुछ साम्य रखता है। यत्रयत्र किंचिद्भेद अवश्य है। मानोल्लेख निम्नाङ्कित है :—

समराङ्गण सूत्र (अ० ७६)

समराङ्गण का प्रतिमाशास्त्र अपूर्ण है तथापि कुछ न कुछ प्रकाश मिलता ही है।

श्रवण नेत्र श्रवण मध्य	५ अंगुल
नेत्र और श्रवण सम	उत्सेध से द्विगुणायत
कर्ण पिप्पली	१ अंगुल ४ यव
पिप्पली और आघात के बीच का लकार आयाम	½ अंगुल,
विस्तार	१ अंगुल, मध्य की गहराई ४ यव
पिप्पली के मूल पर श्रोत्रछिद्र	४ यव
स्तूतिका	आयाम ½ अंगुल, विस्तार २ यव
पीयूषी	आयाम २ अंगुल, विस्तार ½ अंगुल
आवर्त्त कर्णवाह्यरेखा)	६ अंगुल (वक्र और वृत्तायत)
(श्रोत्रमूलावकाश)	½ अंगुल परिणाह
मध्यावकाश	२ यव परिणाह
तदग्रे	१ यव परिणाह
उद्घात	३ यव

कर्ण का ऊपरी विस्तार	१ गोलक २ यव
कर्ण का मध्य विस्तार	नाल का दुगुना
कर्ण का मूल विस्तार	६ मात्रा
पूरा का पूरा	२ गोल का परिणाह
नाल (पश्चिम)	१ अंगुल परिणाह
नाल (पूर्व)	½ अंगुल परिणाह
२ कोमल नाल	१ कला परिणाह
चिबुक	२ अंगुल लम्बा
अधरोष्ठ	१ अंगुल
उत्तरोष्ठ	½ अंगुल
भाजी	½ अंगुल (उँचाई)
नासिका	४ अंगुल लम्बाई
नासिकापुटप्रान्त	२ अंगुल लम्बाई
नासापुट	ओष्ठ के प्रमाण का चौथाई
ललाट	८ अंगुल विस्तृत, ४ अंगुल आयत

इस प्रकार चिबुक से केशान्त मान ३२ अंगुल होता है। आगे का पाठ भ्रष्ट होने से १८ अंगुल किसका प्रमाण है—कहा नहीं जा सकता। ग्रीवा का विस्तार २४ अंगुल कहा गया है। वक्ष एवं नाभि का प्रमाण ग्रीवा प्रमाण से अनुगत है। इसी प्रकार मेढ़ का मान नाभि के मान के दो भागों से परिकल्पित है और उरु और जंघाओं का मान समान माना गया है। दोनों जानुओं का मान ४ अंगुल प्रतिपादित है।

पाद	१४ अंगुल लम्बे, ६ अंगुल चौड़े, और ४ अंगुल ऊँचे
पादांगुष्ठ	५ अंगुल परीणाह, ३ अंगुल लम्बे, और १ अंगुल ३ यव ऊँचे

पादप्रदेशिनी	५ अंगुल परीणाह, ३ अंगुल आयत
मध्यमांगुलि	पादप्रदेशिनी के प्रमाण में ½ कम
अनामिका	मध्यमा के प्रमाण में ½ कम
कनिष्ठा	अनामिका के प्रमाण में ½ कम
अंगुष्ठनख	¾ अंगुल
अंगुलिनख	⅗ अंगुल
जंघामध्यपरीणाह	१८ अंगुल
जानुमध्यपरीणाह	२१ अंगुल
उरूमध्यपरीणाह	३२ अंगुल
मेढ्र (वृषण संस्थित)	६ अंगुल परीणाह
कोश	४ अंगुल
कटि	१८ अंगुल
नाभिमध्यपरीणाह	४६ अंगुल
२ स्तनों का अन्तर	१२ अंगुल
२ कक्षप्रान्त	६ अंगुल लम्बे
पृष्ठविस्तार	२४ अंगुल
पृष्ठ परीणाह	वक्षसम
ग्रीवा	६ अंगुल
भुजायाम	४६ अंगुल
दोनों का पर्वोपरितन (wrist)	१८ अंगुल
दूसरा पर्व	१६ अंगुल
दोनों बाहुओं का मध्यपरीणाह	१८ अंगुल
दोनों प्रबाहुओं का मध्यपरीणाह	१२ अंगुल
भुजतल (सांगुलि)	१२ अंगुल
भुजतल (निरंगुलि)	७ अंगुल

मध्यमांगुलि	५ अंगुल
प्रदेशिनी और अनामिका	दोनों बराबर (परन्तु मध्यक से १ पर्व हीना)
कनिष्ठिका	प्रदेशिनी से १ पर्व हीन
हस्तनख (अंगुलि)	सब पर्व के आधे

स्त्री प्रतिमाओं का मान पुरुष प्रतिमाओं के अनुकूल है केवल उनका वक्ष १८ अंगुल तथा कटि २४ अंगुल निहित है।

बृहत्संहिता के अनुसार प्रतिमा-मान

सूर्य किरणों के अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म कण को परमाणु कहते हैं। परिमाणों में यह सबसे न्यून एवं सूक्ष्म है। आठ परमाणुओं का एक रज होता है। बालाग्र, लिक्षा, यूक, यव तथा अंगुल प्रत्येक आठ परमाणुओं का होता है। मूर्त्ति के आधार की ऊँचाई देवागार के द्वार के अष्टमांश कम करने के तृतीयांश के बराबर तथा मूर्त्ति का परिमाण उससे दुगुना होना चाहिए।

अपने अंगुल के अनुसार मूर्त्ति का मुख १२ अंगुल लम्बा चौड़ा होना चाहिए परन्तु नग्नजित् के कथनानुसार १४ अंगुल लम्बा मुख द्राविड़ परिमाण के अन्तर्गत है। लम्बाई में नासिका, ललाट, चिबुक, ग्रीवा तथा कान चार अंगुल एवं हनु और चिबुक चौड़ाई में दो अंगुल होना चाहिए। ललाट आठ अंगुल विस्तृत, इससे दो अंगुल दूर दोनों ओर की कनपटी परिमाण में चार अंगुल, तथा कान दो अंगुल चौड़े हों। कर्णोपान्त भौंह के साथ एक ही पंक्ति में ५½ अंगुल करना चाहिए; कर्णस्रोत नेत्र प्रबन्ध के साथ ही पंक्ति में करना चाहिए। वसिष्ठ के कथनानुसार नेत्रान्त और कर्णविवर में चार अंगुल का अन्तर, अधर १ अंगुल तथा ओष्ठ आध अंगुल हो। गोच्छा आध अंगुल, मुख चार अंगुल लम्बा हो। मुख बन्द होने पर डेढ़ अंगुल तथा खुले रहने

पर तीन अंगुल होता है। नासापुट का विस्तार दो अंगुल, उसका अग्र भाग दो अंगुल ऊँचा तथा दोनों नेत्रों का अन्तर चार अंगुल है। नेत्रकोश तथा नेत्र दो अंगुल, तारा उसका तृतीयांश, दृक्तारा पंचांश तथा नेत्रविकास एक अंगुल, भ्रलेखा एक छोर से दूसरे छोर तक १० अंगुल तथा चौड़ाई आध अंगुल, भ्रूमध्य दो अंगुल तथा भ्रू चार अंगुल लम्बाई में होना चाहिए। केशरेखा भ्रूबन्ध के समान (अर्थात् १० अंगुल) तथा मोटाई आध अंगुल, नेत्रान्त एक अंगुल, सिर की परिधि ३२ अंगुल तथा चौड़ाई १४ अंगुल, चित्रकर्म में केवल १८ अंगुल व्यक्त तथा २० अंगुल अव्यक्त होना चाहिए। नग्नजित् के कथनानुसार केश समूह सहित मुख का आयाम १६ अंगुल, ग्रीवा का विस्तार दस अंगुल तथा परिधि २१ अंगुल है। कण्ठ से हृदय तक १२ अंगुल, हृदय से नाभि तक १२ अंगुल तथा उतना ही परिमाण नाभि मध्य नाभि से मेढ़् तक कहा गया है।

उरु तथा जंघा २४ अंगुल, जानुकपिच्छ और पैर ४ अंगुल, पादांगुष्ठ का आयाम ३ अंगुल तथा परिधि ५ अंगुल, पैर की लम्बाई १२ अंगुल तथा चौड़ाई ६ अंगुल प्रदेशिनी ३ अंगुल लम्बी होनी चाहिए।

शेष अँगुलियाँ क्रम से अष्टमांश छोटी करनी चाहिए। अँगुष्ठ की ऊँचाई १$\frac{1}{4}$ अंगुल कही गई है। प्रतिमा लक्षणज्ञों ने अँगुष्ठ-नख का परिमाण $\frac{3}{4}$ अंगुल कहा है और अंगुलियों के नख का परिमाण क्रमशः आध अंगुल या उससे कुछ कम बतलाया है। जंघाग्र की परिधि १४ अंगुल लम्बी तथा ५ अंगुल चौड़ी; मध्य में ७ अंगुल चौड़ी और २१ अंगुल परिधि कही गई है। जानु-मध्य की विपुलता (मोटाई) ८ अंगुल, परिधि २४ अंगुल, उरुमध्य की चौड़ाई १४ अंगुल तथा परिधि २४ अंगुल, कटि की चौड़ाई

१८ अंगुल, परिधि ४४ अंगुल तथा नाभि की गहराई एवं परिमाण एक अंगुल होता है।

नाभिमध्य से शरीर के मध्यभाग की परिधि ४२ अंगुल, स्तनों के बीच का अन्तर १६ अंगुल तथा ऊपर की ओर ६ अंगुल, कन्धों को १२ अंगुल, बाहु एवं प्रबाहु को १२ अंगुल लम्बे तथा क्रमशः ६ अंगुल और ४ अंगुल चौड़े करना चाहिए।

बाहुमूल की परिधि १६ अंगुल, प्रकोष्ठ प्रदेश (अग्रहस्त) की १२ अंगुल, करतल की चौड़ाई ६ अंगुल तथा लम्बाई ७ अंगुल, मध्या (अँगुली) ५ अंगुल, प्रदेशिनी आध पर्व कम, अनामिका प्रदेशिनी के बराबर, कनिष्ठा एक पर्व कम, अंगुष्ठ २ पर्व, शेष अँगुलियाँ तीन तीन अंगुल का बनाना चाहिए। नख का परिमाण प्रत्येक अँगुली के आधे पर्व के समान करना चाहिए।

देशानुरूप वेशभूषा, भूषण एवं अलंकारों से युक्त मूर्त्ति का निर्माण करना चाहिए। लक्षणसम्पन्न प्रतिमा समृद्धिदायिनी होती है।

फा० १०

परिशिष्ट स

प्रतिमाद्रव्याणि

सुवर्णरूप्यताम्राश्मदारुलेप्यानि शक्तितः ।
चित्रं चेति विनिर्दिष्टं द्रव्यमर्चासु सप्तधा ।
सुवर्णं पुष्टिकृद् विद्यात् रजतं कीर्तिवर्धनम् ॥
प्रजाविवृद्धिजं ताम्रं शैलेयं भूजयावहम् ।
आयुष्यं दारवं द्रव्यं लेप्यचित्रे धनावहे ॥ सं० सः ७६.१-३

अर्थात् सुवर्ण प्रतिमा पुष्टिकारक, रजत कीर्त्तिवर्धक, ताम्र सन्तान वृद्धिकारक, पाषाण भूजयावह, दारु आयुष्यवर्धक, लेप्य (मृत्तिका) तथा चित्र धनदायक होती है। भविष्यपुराण में भी प्रतिमा के निम्नाङ्कित सात द्रव्यों का उल्लेख है :—

१ काञ्चनी, २ राजती, ३ ताम्री, ४ पार्थिवी, ५ शैलजा, ६ वार्क्षी (दारुजा), ७ आलेख्यका (चित्रजा)। शुक्रनीतिसार में प्रतिमा-निर्माण द्रव्यों की संख्या आठ कही गई है। यथा—

प्रतिमा सैकती पैष्टी लेख्या लेप्या च मृण्मयी ।
वार्क्षी पाषाणधातूत्था स्थिरा ज्ञेया यथोत्तरा ॥

अर्थात् सैकती (बालू से निर्मिता), पैष्टी (चावलादि को पीसकर पीठी आदि) से विनिर्मिता, लेख्या (चित्रजा) लेप्या (मृत्तिकाक्वाथ) से निर्मिता, मृण्मयी (मृत्तिकाविनिर्मिता) वार्क्षी (काष्ठजा) पाषाणविनिर्मिता तथा धातुओं से निर्मिता चिरकाल

तक ठहरनेवाली समझनी चाहिए। मत्स्यपुराण से प्रतिमा-द्रव्यों का वर्णन इस प्रकार है—

सौवर्णी राजती वापि ताम्री रत्नमयी तथा।
शैली दारुमयी चापि लोहसंवमयी तथा ॥
रीतिका धातुयुक्ता वा ताम्रकांस्यमयी तथा।
शुभदारुमयी वापि देवतार्चा प्रशस्यते ॥

अर्थात् सुवर्ण चाँदी, ताँबा, रत्न, लकड़ी, लोहे, सीसे, पत्थर पीतल, ताँबे और काँसे से मिश्रित धातु अथवा अन्य शुभ काष्ठों से निर्मित देवप्रतिमाप्रशस्त मानी गई है। ये ही द्रव्य मूर्त्तिनिर्माण के काम में आती हैं।

प्रतिमा-निर्माणोपक्रमविधिः—

प्रारभेद् विधिना प्राज्ञो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
हविष्यनियताहारो जपहोमपरायणः ॥ सं० स० ७४।६
शयानो धरणीपृष्ठे कुशास्तरणे तदन्तरम् ॥

अर्थात् चतुर कलाकार को चाहिए कि ब्रह्मचर्य रखते हुए जितेन्द्रिय होकर नियमित रूप से हविष्यान्न का ही भोजन करते हुए जप तथा होम में संलग्न पृथ्वी पर तदनन्तर कुशास्तरण पर शयन करते हुए विधिपूर्वक मूर्त्तिनिर्माण कार्य में तत्पर हो। कलाकार को साधक के रूप में रहना चाहिए।

पंचपुरुषस्त्रीणां लक्षणम्

पंचानां हंसमुख्यानां देहवन्धादिकं नृणाम्।
दण्डिनीप्रमुखानां च स्त्रीणां तद् ब्रमहे पृथक् ॥
हंसः शशोऽथ रुचको भद्रो मालव्य एव च।
पंचैते पुरुषास्तेषु मानं हंसस्य कथ्यते ॥

अष्टाशीत्यङ्गुलो हंसस्यायामः परिकीर्त्तितः।
विज्ञेया वृद्धिरन्येषां चतुर्णां द्व्यङ्गुलक्रमात् ॥। ८११,-३
ताराग्रहैर्बलयुतैः स्वक्षेत्रस्वोच्चगैश्चतुष्टयगैः।
पञ्चपुरुषः प्रशस्ता जायन्ते तानहं वक्ष्ये ॥
जीवेन भवति हंसः सौरेण शशः कुजेन रुचकश्च ॥
भद्रो बुधेन बलिना मालव्यो दैत्यपूज्येन ॥
वृ० सं० अ० ६८ श्लोक १—२

प्रतिमादोषाः

अथ वर्ज्यानि रूपाणि ब्रूमहेऽर्चादिकर्मसु।
यथोक्तं शास्त्रतत्त्वज्ञगोब्राह्मणहितार्थिभिः ॥
अशास्त्रज्ञेन घटितं शिल्पिना दोषसंयुतम्।
अपि माधुर्यसम्पन्नं न ग्राह्यं शास्त्रवेदिभिः ॥
अश्लिष्टसन्धिं विभ्रान्तां वक्रां चावनतां तथा।
अस्थिरामुन्नतां चैव काकजंघां तथैव च ॥
प्रत्यंगहीनां विकटां मध्ये ग्रन्थिनतां तथा।
ईदृशीं देवतां प्राज्ञो हितार्थं नैव कारयेत् ॥
अश्लिष्टसन्ध्यामरणं भ्रान्तया स्थानविभ्रमम्।
वक्रया कलहं विद्यान्नतया वयसः क्षयम् ॥
नित्यमस्थितया पुंसामर्थस्य क्षयमादिशेत्।
भयमुन्नतया विद्याद् हृद्रोगं च न संशयः ॥
देशान्तरेषु गमनं सततं काकजंघया।
प्रत्यङ्गहीनया नित्यं भेर्त्तुः स्यादनपत्यता ॥
विकटाकारया ज्ञेयं भयं दारुणमर्चया।
अधोमुख्या शिरोरोगं.........................॥
एतैरुपेता दोषैर्या वर्जयेत् तां प्रयत्नतः। सं० स० ७८, १-६

मत्स्यपुराण के २५६ वें अध्याय में १५-२० श्लोकों में भी प्रतिमा के दोषों का वर्णन किया गया है।

प्रतिमादोष

(समरांगण एवं मत्स्यपुराण के आधार पर)

दोष	फल
१—अश्लिष्टसन्धि	मरण
२—विभ्रान्ता	स्थानविभ्रम
३—वक्रा	कलह
४—अवनता	वयःक्षय
५—अस्थिता	अर्थक्षय
६—उन्नता	हृद्रोग
७—काकजंघा	देशान्तरगमन
८—प्रत्यङ्गहीना	अनपत्यता
९—विकटाकारा	दारुण भय
१०—मध्यग्रन्थिनता	अनर्थका
११—अधोमुखी	शिरोरोग
१२—न्यूना	स्वामी का नाश
१३—अधिका	शिल्पी का नाश
१४—कृशा	अर्थनाशिनी
१५—कृशोदरी	दुर्भिक्षकारिणी
१६—विमांसा	धननाशिनी
१७—वक्रनासा	दुःखदायिनी
१८—संक्षिप्ताङ्गी	भयंकरी
१९—चिपिटा	दुःखशोककारिणी
२०—अनेत्रा	नेत्रनाशिनी
२१—हीनवक्त्रा	दुःखदा
२२—हीनांगा	भ्रमकारिणी

२३—हीनजङ्घा	उन्मादकारिणी
२४—शुष्कवक्त्रा	राजनाशकारिणी
२५—पाणिपादविहीना	मारक
२६—जङ्घाजांनुविहीना	शत्रुकल्याणकारिणी
२७—हीनवक्षस्थला	पुत्रमित्रविनाशकारिणी

विचारणीय है कि इन दोषों का अभाव ही गुण है इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है :—

प्रतिमागुण

१—सुश्लिष्ट सन्धि	९—प्रसन्नवदना
२—ताम्रलोहसुवर्णरजतबद्धा	१०—यथोत्सेधा
३—प्रमाणसुविभक्ता	११—सुजानुजङ्घायुता
४—अक्षता	१२—शुभा
५—मांसला	१३—सुष्ठुवक्षस्थला
६—अप्रत्यङ्गहीना	१४—समायती
७—प्रमाणगुणसंयुता	१५—ऋजुस्थिता
८—सुचारुनेत्रा	१६—सम्पूर्णावयवा

१७—सर्वलक्षणसम्पन्ना

परिशिष्ट द

प्रतिमा के आयुध

प्रतिमाओं के सम्बन्ध में पाँच प्रधान ज्ञातव्य बातें हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि किस देवता की प्रतिमा है--आसन, वाहन, आयुध, आभूषण एवं वस्त्र यथा वृषभवाहन, यतिवेष, त्रिशूलधारी से शिव का बोध तथा सिंहवाहिनी तथा परिघ, पट्टिश, चर्मादि आयुधों से दुर्गा का बोध होता है। यों तो आसनों की संख्या ८४ लक्ष है परन्तु उनमें एकादश विशेष प्रसिद्ध हैं :--

चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन तथा गोमुखासन।

जैसे देवता की आराधना करनी हो उसी के अनुकूल आसन तथा वाहन भी अपेक्षित है। वास्तव में उपास्य एवं उपासक में एकात्मकता स्थापित करने के लिए प्रतिमापूजा का उदय हुआ है "ध्यानयोगस्य संसिद्धयै प्रतिमाः परिकल्पिताः।"

यथा पद्मासन, हंसवाहन ब्रह्मा, गरुड़ारूढ़ विष्णु, वृषारूढ़ शिव, मयूरासन कार्त्तिकेय, मूषिकासन गणेश, सिंहवाहिनी दुर्गा, पद्मासना, उलूक वाहिनी लक्ष्मी आदि। देवीदेवताओं के आयुधों में निम्न द्रष्टव्य हैं। शंख, चक्र, गदा (कोमोदिकी) शारङ्ग धनुष,—विष्णु के, त्रिशूल, पिनाक धनुष, खट्वाङ्ग, अग्नि, परशु शिव के; अंकुश, पाश गणेश के; वज्र, टंक इन्द्र के; मुसल, हल, वलराम के; शर,

खड्ग, मुद्गर, खेटक धनु, पताका कार्त्तिकेय के; परिघ, पट्टिश, चर्म दुर्गा के आयुध कहे गये हैं।

कतिपय आयुधों पर विशेष टिप्पणी आवश्यक प्रतीत होती हैं :—
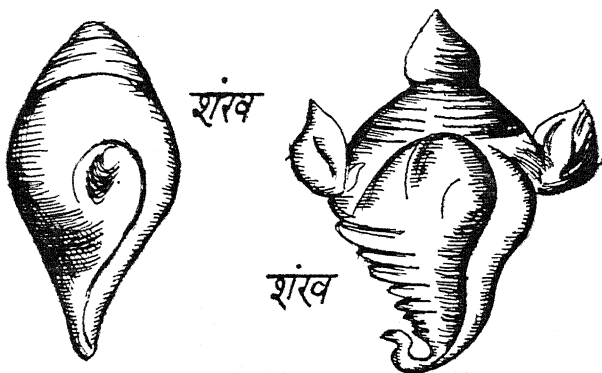
शंख—युद्धक्षेत्र में शंख बजाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक है। साधुओं के परित्राण एवं पापियों के विनाश के लिए जब भगवान् भूतल पर अवतीर्ण होते हैं तो वे समाज तथा धर्म की विलुप्त मर्यादाओं को पुनः प्रतिष्ठित करते हैं। विष्णु भगवान् के पांचजन्य शंख में पंचजन नामक असुर के वध तथा उसकी अस्थि से निर्मित होने की गाथा अन्तर्हित है। शंखध्वनि द्वारा धर्म संस्थापन की घोषणा की जाती है। टी० गोपीनाथ राव महाशय ने शंख की पाषाणमूर्त्ति कल्पना के सम्बन्ध में लिखा है—

"The conch represented in sculptures is either a plain conch held in the hand with all the five fingers by its open end, or ornamental

चक्र
चक्र
चक्र
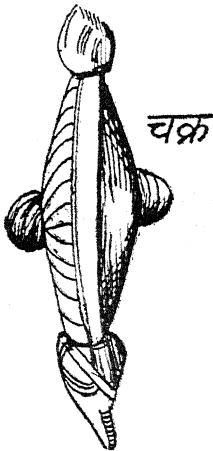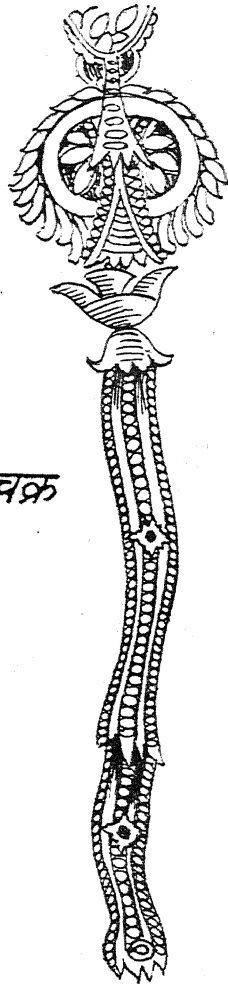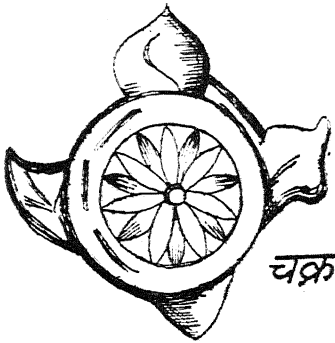
one having its head or spiral top covered with a decorative metal cap, surmounted by the head of a mythical lion, and having a cloth tied round it so that portions of it may hang on either side.
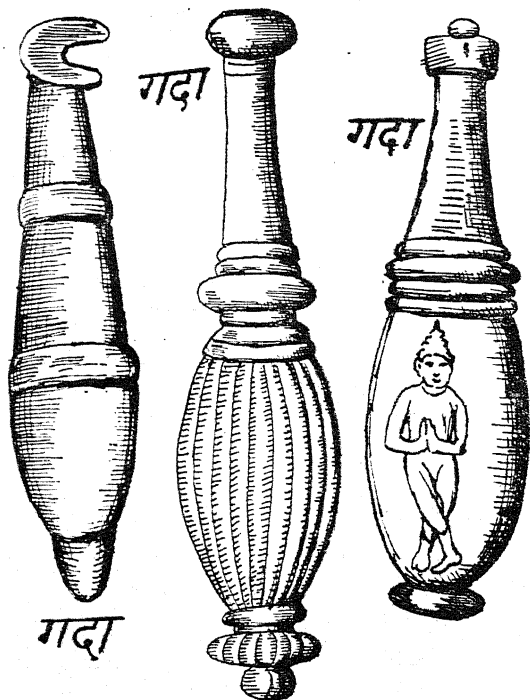
चक्र—यह एक वैष्णव आयुध है। विष्णु तथा वैष्णवी दुर्गा दोनों के हाथों में इस आयुध की कल्पना हुई है। इसको स्थापत्य में दो तीन रूपों में दिखाया गया है। एक तो रथाङ्ग

(पहिया) के रूप में अथवा अलंकृत चक्र (disc) के रूप में अथवा प्रस्फुटित कमल के रूप में। इसको सुदर्शनचक्र भी कहते हैं।

गदा—डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल अपनी कृति 'प्रतिमा विज्ञान' में लिखते हैं—हस्त तथा गदा का सतत सान्निध्य अपेक्षित है। यह एक प्रकार का हिन्दुस्तानी मोटा सोंटा है और पूरी पाँचों अँगुलियों से पकड़ा जाता है। विष्णु की गदा का नाम कौमोदिकी है। डा० बैनर्जी के मतानुसार प्राचीन प्राप्त प्रतिमाओं में गदा तथा दण्ड में कोई विभेद नहीं परिलक्षित होता है। अतः प्राचीन स्थापत्य में इसकी आकृति सीधीसादी है।

खड्ग—यह लम्बी या छोटी तलवार के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसका खेटक से साहचर्य है। खेटक काष्ठमय अथवा चर्ममय दोनों प्रकार का होता है। यह वर्तुल अथवा चतुरस्र दोनों प्रकार की आकृति का होता है। इसके पीछे हैंडिल भी होता है जिसे पकड़ा जाता है। विभिन्न देवों के खड्ग विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। विष्णु के खड्ग का नाम नन्दक है।

मुसल—यह लकड़ी का साधारण वर्त्तुलाकार (बेलन के आकार का) एक दण्ड था जो प्रहार योग्य आयुध के रूप में प्रयुक्त हो सकता था। यह संकर्षण बलराम का आयुध कहा गया है। साधारण जनभाषा में इसे मूसर कहते हैं जिसे ग्रामीण स्त्रियाँ अन्न कूटने के काम में लाती हैं।

धनुष—स्थापत्य में धनुष के प्रदर्शन की तीन आकृतियों का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम वृत्त के तोरण के आकार का जिसका सिरा गोटे से युक्त किया जाता है। दूसरे प्रकार में तीन मोड़ होते हैं। तीसरे प्रकार में पाँच मोड़ होते हैं जो इस आयुध के विकास में बहुत बाद के समय का प्रतीत होता है। शिव के धनुष का नाम पिनाक है। अतः शिव को पिनाकी भी कहते हैं यथा—'तथा समद्

दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।' प्रद्युम्न, मन्मथ तथा कामदेव का पुष्पविनिर्मित धनुष प्रसिद्ध ही है ।
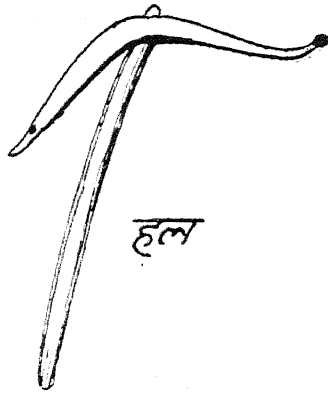
परशु—यह एक कुल्हाड़ी के आकार का होता है। यह गणेश का विशिष्ट आयुध माना गया है। कुल्हाड़ी का प्रयोग लकड़ी चीरने में तथा शत्रुओं की खोपड़ी चीरने में होता है। राव के विचार में स्थापत्य में जो प्राचीनतम निदर्शन हैं वे हलके, सुश्लिष्ट तथा मनोरम हैं। बाद के परशुओं का आकार गदाकार हुआ।

हल—किसान लोग हल को जोतने के काम में लाते हैं। टी० गोपीनाथ राव महाशय ने इसे ("Probably extemporised as a weapon cf war" लिखा है । अर्थात् युद्ध में इसका प्रयोग होता रहा होगा।

खेटक—खेटक या तो वृत्ताकार होता है अथवा चतुरस्र तथा इसमें पकड़ने के लिए हैंडिल होता है। कभी-कभी खेटक के आकार पर विचित्र मूर्त्ति बनाई जाती है।

शर—बाण काष्ठनिर्मित होता है। इसका शिरोभाग लोहनिर्मित होता है तथा पीछे की ओर इसके दोनों ओर पंख लगे होते हैं। बाण पीठ से लटकते हुए तरकश में रखे जाते हैं। अनामिका एवं मध्यमा अंगुलियों की सहायता से प्रयोग में लाने के लिए बाण तरकश (तूणीर) से निकाले जाते हैं।
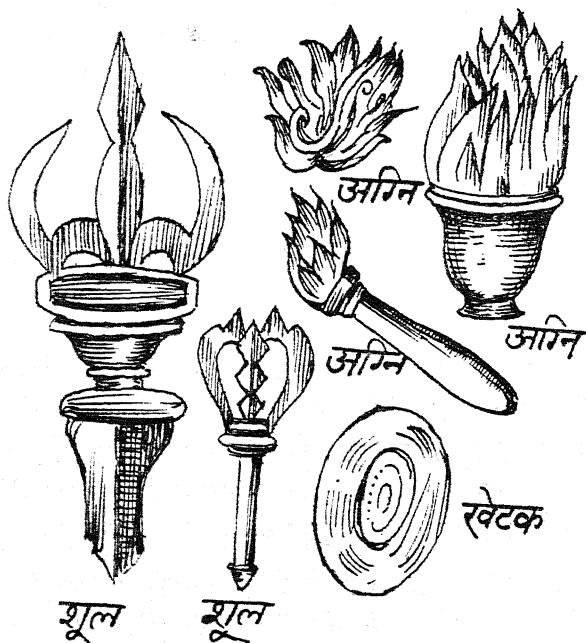
शूल—भगवान् शंकर का प्रिय आयुध है। यह अनेक आकारों में प्रदर्शित किया गया है। इन सबों में मुख्य रूप धातुनिर्मित

तेहरे नुकीले शूल हैं जो एक लम्बे दण्ड में लगे रहते हैं।

अंकुश—हाथी के संचालन के प्रयोग में आता है। इससे बड़े-बड़े हाथियों को नियंत्रण में रखा जा सकता है। इसमें काष्टनिर्मित मूठ में एक तेज लोहे का तिरछा काँटा संलग्न रहता है।

पाश—यह रज्जुओं का फन्दा है जो शत्रु के हाथ-पैर बाँधने के काम में आता है। स्थापत्य में इसे दो या तीन रज्जुओं के इकहरे या दोहरे घेरे के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यह यम तथा वरुण का आयुध है।
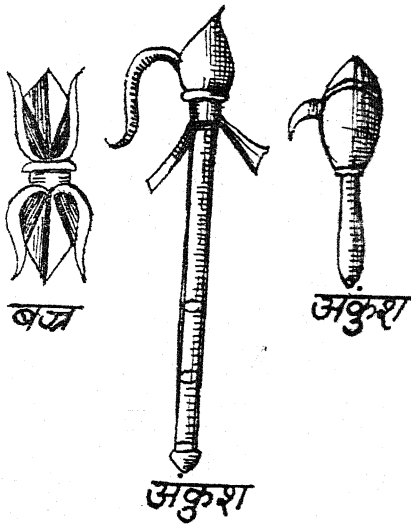
वज्र—यह इन्द्र का आयुध कहा गया है। बुद्धकाल से लेकर इसका एक बड़ा इतिहास है। बाद को हिन्दू कथाओं में इसका वही रूप चित्रित किया गया है जो आदि काल से चला आता था। इसका निर्माण दो समान भागों में होता है। प्रत्येक में

पत्तियों के पंजों के समान तीन नोक होती है। ये दोनों भाग मध्य में मूठ के द्वारा जुड़ा होता है।

शक्ति—यह भाले का ही दूसरा नाम है। यह धातुनिर्मित चौखुंटा अथवा अर्धाण्डाकार फलक से युक्त होता है। इसका निचला भाग खोखला रहता है जिसमें एक काष्ठदण्ड लगा होता है।
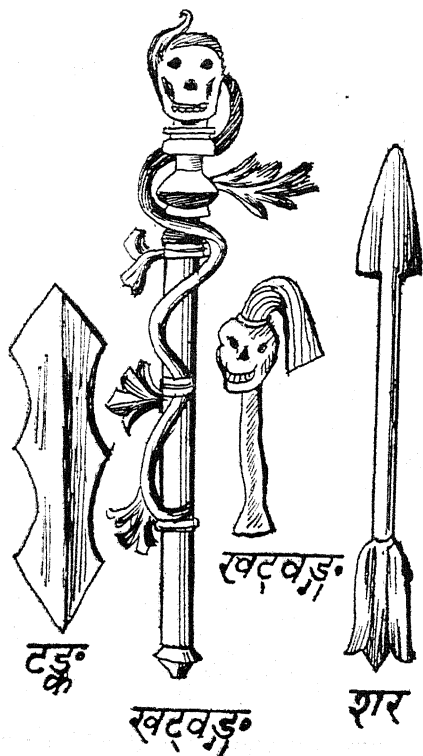
अग्नि—इसका प्रयोग दो रूपों में दिखाया गया है एक तो आयुध के रूप में, दूसरा यज्ञादि कर्म के निमित्त। आयुध के रूप में प्रायः भगवान् शिव के हाथ में पाया जाता है।

खट्वाङ्ग—के सम्बन्ध में राव के एतद्विषयक वर्णन का विवरण देते हुए डॉ० बैनर्जी अपने ग्रन्थ में लिखते हैं—

'Khatvanga' is a " curious sort of club, made up of the bone of the forearm or the leg, to the end of which a human skull is attached through its forearm"—Rao. "This description shows how hideous the weapon was, though in some of its late medieval repreentations this character is some what subdued by the replacement of the osseous shaft by a well carved and ornamented wooden handle."

यह आयुध देवी की भयावह मूर्त्तियों में जैसे चामुण्डा तथा भैरवी के हाथों में दिखाया गया है। यह अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयोग में लाया जाता रहा है।

टङ्क—यह एक प्रकार की छोटी छेनी है। इसे पाषाणतक्षक पत्थर काटने के काम में लाते थे। टंक शिव एवं इन्द्र का आयुध कहा गया है।

आभूषण एवं वस्त्र—हिन्दू स्थापत्य में प्रतिमाओं को अनेक आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित करने का उल्लेख है। वाराहमिहिर ने अपनी वृहत्संहिता में लिखा है—"देशानुरूपभूषणवेशालंकार मूर्त्तिभिः कार्या।" देव प्रतिमाओं के परिधान सूती, रेशमी व्याघ्र-चर्म अथवा मृगचर्म के होते हैं। ये परिधान विविध रंगों में रँगे जाते हैं। देश कालानुसार स्त्री-पुरुषों के जो आभूषण प्रचलित थे उन्हीं के अनुरूप देव प्रतिमाओं में भी कल्पना की गई है। समाज के विभिन्नस्तर एवं वर्णाश्रमधर्म के अनुसार ब्रह्मा ब्रह्मचारी के रूप में, शिव यती संन्यासी के रूप में, विष्णु राजा के रूप में, स्कन्द सेनानी के रूप में परिकल्पित किये गये हैं। भूषा भूष्य के

अनुरूप होना चाहिए। अतएव वैष्णवी प्रतिमाओं के साथ साथ इन्द्र, कुबेर आदि देव प्रतिमायें राजसी भूषा में, शिव, ब्रह्मा, अग्नि तपश्चरणानुरूप यतिभूषा अथवा योगिरूप में, सूर्य, स्कन्द आदि सेनानी रूप में, तथा दुर्गा, लक्ष्मी, श्री, काली उच्चवर्णीय मान्य महिलाओं की भाँति बहुविध रत्नालंकार आदि से विभूषित की गई हैं। हार, केयूर, कंकण, कुण्डल, श्रीवत्स, वैजयन्ती आदि अनेक आभूषण देवप्रतिमाओं के काम आती हैं। विस्तार भय से इन पर टिप्पणी देना अनपेक्षित है। इस प्रकार परिधान का वर्ण भी देव वर्णानुरूप परिकल्पित किया गया है मेघश्याम विष्णु पीताम्बर, गौर-वर्ण बलराम नीलाम्बर, सूर्य, ब्रह्मा, लक्ष्मी, दुर्गा रक्ताम्बर चित्रित किये गये हैं।

अनुक्रमणिका

ब्रह्मा

विष्णु

महादेव

गणेश

लक्ष्मी

BKD
सरस्वती

विश्वकर्मा
BKD

गरुड़

सूर्य

यम

नासत्य

भद्रकाली

कुमार

बरुण

भैरव